वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४९ अंक ९ सितम्बर २०११
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर २०११

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४९
अंक ९

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर – २२,५००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

Ramakrishna Math, Belur
P.O. Belur Math, Dist. Howrah
West Bengal 711202

NOTICE

According to the Rules and Regulations of Ramakrishna Math, Belur, 2008, "Ramakrishna Order / Sangha" means the Organization of sannyasins attached to Ramakrishna Math, Belur. A register of such sannyasins and ordained brahmacharins is maintained at Belur Math. So, any sannyasin or ordained brahmacharin whose name is not found in the current register of monastics maintained by Ramakrishna Math, Belur, (not in the occasionally printed list of monastics) cannot be considered to be a monastic of the Ramakrishna Order attached to Ramakrishna Math, Belur, even if he feels like following the life and teachings of Ramakrishna-Vivekananda as a devotee, like many other persons having faith in the great saints.

The Trust, Ramakrishna Math, Belur, is governed by the provisions and Rules thereof.

Sd/-
General Secretary

वर्ष ४९ सितम्बर २०११ अंक ९

पुरखों की थाती

अहनि अहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ।। ७८।।

– प्रतिदिन अनेक प्राणी इस संसार से यमलोक की यात्रा करते हैं, परन्तु जो बचे रहते हैं वे इस संसार में चिर काल तक जीवित रहने की इच्छा करते हैं – इससे बढ़कर आश्चर्य की बात क्या हो सकती है !

अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारति
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति संचयात् ।।७९।।

– हे सरस्वती, तुम्हारा यह ज्ञान का कोश बड़ा अद्भुत है। (इसमें कैसा विरोधाभास है !) इसमें से खर्च करने पर तो यह बढ़ता है और संचय करने पर यह नष्ट हो जाता है।

अनर्हते यद्ददाति न ददाति यदर्हते ।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद्दानधर्मोऽपि दुष्करः ।।८०।।

– अयोग्य को दिया गया दान और योग्य को न दिया गया दान (दोनों ही अनुचित हैं); उचित-अनुचित का ज्ञान न होने के कारण दानधर्म भी अत्यन्त कठिन है।

अभिवादन-शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ।।८१।।

– जो व्यक्ति विनम्र है, नित्य प्रति बड़ों की सेवा या सेवन करता है, उसके जीवन में आयु, विद्या, यश तथा बल – ये चार चीजें बढ़ती जाती हैं। (मनुस्मृति)

अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ।।८२।।

राजा जनक – (आत्मा-रूपी) मेरा धन अनन्त है, ऐसा कुछ भी नहीं जो मेरा न हो; अगर मेरी राजधानी मिथिला जलकर राख भी हो जाय, तो मेरा कुछ नहीं जलता। (महाभारत)

असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मा अमृतं गमय ।।८३।।

– हे परमात्मा, मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो । (बृहदारण्यक उप. १.३.२८)

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ।।८४।।

– जो बिना बुलाये अन्दर आ जाता है, बिना पूछे बहुत-कुछ कहता रहता है, हर किसी पर विश्वास कर लेता है, वह मूढ़बुद्धि वाला व्यक्ति अधम कोटि में आता है । (महाभारत)

अखिलेषु विहंगेषु हन्त स्वच्छन्द-चारिषु
शुक पंजरबन्धस्ते मधुराणां गिरां फलम् ।।८५।।

– सभी पक्षी आकाश में स्वच्छन्द विचरण करते हैं, परन्तु तोते को पिंजरे में बन्द रखा जाता है, अहा ! मधुर वाणी का यही कुफल होता है।

अर्थार्थी यानि कष्टानि मूढोऽयं सहते जनः ।
शतांशेनापि मोक्षार्थी तानि चेन्मोक्षमाप्नुयात् ।।८६।।

– धन की इच्छा करनेवाला मूढ़ अर्थात् मोहग्रस्त व्यक्ति धन पाने के लिये जितना कष्ट सहन करता है; मोक्ष की इच्छा करनेवाला यदि उसका सौंवा अंश भी कष्ट उठाये, तो उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ।

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
क्षमा चैवाप्रमादश्च यस्यैते स सुखी भवेत् ।।८७।।

– जिस व्यक्ति के जीवन में सर्वभूतों के प्रति अहिंसा, सत्य-वाणी, सरलता, क्षमाभाव तथा अप्रमाद है, वही सुखी हो सकता है। (महाभारत)

❖ **(क्रमशः)** ❖

मातृ-वन्दना

– १ –

(वैरागी–कहरवा)

जननी, अब तो पार लगा दे ।
जनम-जनम से भटक रहा हूँ, तू ही राह बता दे ।।

बिसराकर पदकमल तुम्हारे,
डूबा था विषयों में सारे;
साँझ भयी अब घर आया हूँ, ना मुझको लौटा दे ।।

भक्ति-विराग नहीं कछु मेरे,
लोभ-मोह सब दोष घनेरे;
तेरी करुणा ही सम्बल है, भव-भय दूर हटा दे ।।

मैं अबोध-असहाय-अकिंचन,
तो भी तू करती है वंचन;
अब 'विदेह'-अज्ञान मिटाकर, अपना रूप दिखा दे ।।

– २ –

(मिश्र केदार–रूपक)

अब तो दरस दे दो मात ।
खेल जग में थक चुका हूँ,
और कछु न सुहात ।।

मरु-जगत् के भ्रम-जलधि में,
आयु की इस लघु अवधि में,
काम-कांचन-मोह के वश,
जनम निष्फल जात ।।

मूढ़ता-अज्ञान मन में,
ले भटकता मोह-वन में,
विषय-पंचक विषम वंचक,
सतत बैठे घात ।।

आयी हो तुम दुःख हरने, ज्ञान दे आलोक करने,
चित्त से मेरे मिटा दो, घन अँधेरी रात ।।

– 'विदेह'

धर्मावतार श्रीरामकृष्ण

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

मैं एक ऐसे महापुरुष को जानता हूँ, जिन्हें लोग पागल कहते थे। इस पर वे बोले, "भाइयो, सारा संसार ही तो एक पागलखाना है। कोई नाम के पीछे पागल है, तो कोई यश के लिए या कोई पैसे के लिए। फिर कोई ऐसे भी हैं, जो मुक्ति पाने या स्वर्ग जाने के लिये पागल हैं। इस विराट् पागलखाने में मैं भी एक पागल हूँ – मैं भगवान के लिए पागल हूँ। तुम पैसे के लिये पागल हो और मैं भगवान के लिए। जैसे तुम पागल हो, वैसे ही मैं भी। तो भी मैं सोचता हूँ कि मेरा ही पागलपन सर्वोत्तम है।"[१३]

मन कभी-कभी किसी भाव को लेकर एक-वृत्ति में स्थिर हो जाता है, इसी का नाम सविकल्प ध्यान है और मन जिस समय सभी वृत्तियों से शून्य होकर निराधार एक अखण्ड बोधरूपी प्रत्यक् चैतन्य में लीन हो जाता है, उसका नाम है वृत्तिहीन निर्विकल्प समाधि। श्रीरामकृष्ण में हमने ये दोनों समाधियाँ बार-बार देखी हैं। उन्हें प्रयास करके ऐसी अवस्थाएँ नहीं लानी पड़ती थीं, बल्कि अपने आप ही सहसा वैसा हो जाया करता था। वह एक आश्चर्यजनक घटना होती थी! उन्हें देखकर ही तो यह सब ठीक समझ सका था।[१४]

किसी तरह मन के बाहर की जड़ शक्तियों को वश में लाकर कोई चमत्कार दिखाना कोई बड़ी बात नहीं है, परन्तु ये पागल ब्राह्मण (श्रीरामकृष्ण) लोगों के मन को जिस प्रकार मिट्टी के लौंदे की भाँति तोड़ते, पीटते, गढ़ते तथा स्पर्श-मात्र से नये साँचे में ढालकर नवीन भावों से परिपूर्ण कर देते थे, मुझे इससे बढ़कर और कोई आश्चर्यजनक चमत्कार दिखायी नहीं दिया![१५]

श्रीरामकृष्ण ने कभी किसी के विरुद्ध कोई कड़ी बात नहीं कही। उनका हृदय इतना उदार था कि सभी सम्प्रदाय उनके बारे में सोचते कि वे उन्हीं के हैं। वे सभी से प्रेम करते थे। उनकी दृष्टि में सभी धर्म सत्य थे – वे कहते कि धर्म-जगत् में सभी धर्मों के लिये स्थान है। वे मुक्तस्वभाव थे, किन्तु सर्व-साधारण के प्रति समान प्रेम में ही उनके मुक्त-स्वभाव का परिचय मिलाता था, वज्रवत् कठोरता में नहीं। ऐसे कोमल-हृदय व्यक्ति ही नूतन भाव की सृष्टि करते हैं। और कर्मप्रवण लोग इस भाव को चारों ओर फैला देते हैं। ...

श्रीरामकृष्ण वर्तमान युग के उपयुक्त धर्म की शिक्षा देने आये थे – जो सकारात्मक हैं, न कि विध्वंसक। उन्हें नये ढंग से प्रकृति के समीप जाकर सत्य जानने की चेष्टा करनी पड़ी थी, जिसके फलस्वरूप उन्हें वैज्ञानिक धर्म प्राप्त हो गया था। वह धर्म किसी को कुछ मान लेने को नहीं कहता, अपितु स्वयं परख लेने को कहता है। मैं सत्य का दर्शन करता हूँ, तुम भी इच्छा करने पर उसका दर्शन कर सकते हो। मैंने जिस साधन का आश्रय लिया है, तुम भी उसी का आश्रय लो, वैसा करने पर तुम भी हमारे सदृश सत्य का दर्शन करोगे। ईश्वर सबको प्राप्त होंगे – इस समत्व भाव को सभी प्राप्त कर सकेंगे। श्रीरामकृष्ण जो उपदेश दे गये हैं, वह सब हिन्दू धर्म का सार-स्वरूप है, उन्होंने अपनी ओर से कोई नयी बात नहीं कही। वे उन सब बातों को अपनी बतलाने का भी कभी दावा नहीं करते थे; वे नाम-यश के लिए किंचित् मात्र भी आकांक्षा नहीं रखते थे।

उनकी आयु जब करीब चालीस वर्ष की थी, तब उन्होंने उपदेश देना आरम्भ किया। परन्तु इस प्रचार के लिए वे कभी कहीं बाहर नहीं गये। जो उनके पास आकर उपदेश ग्रहण करने की इच्छा रखते थे, वे उन्हीं की प्रतीक्षा करते थे।... श्रीरामकृष्ण की पूजा भारत में एक महान् अवतार के रूप में होती है। उनका जन्मदिन वहाँ एक धर्मोत्सव-रूप में मनाया जाता है।[१६]

मेरे गुरुदेव के जीवन का दूसरा महान् तत्त्व था – दूसरों के प्रति अगाध प्रेम। उनके जीवन का पूर्वार्ध धर्मोपार्जन में लगा रहा तथा उत्तरार्ध उसके वितरण में।... दल-के-दल लोग मेरे गुरुदेव की वाणी सुनने आते थे और वे चौबीस घण्टे में से बीस घण्टे तक उनसे बातें करते रहते थे; और

कोई यह एक दिन की बात नहीं है, बल्कि महीनों यही क्रम जारी रहा। इसका फल यह हुआ कि कठोर परिश्रम से अन्त में उनका शरीर टूट गया। मानव-जाति के प्रति उन्हें ऐसा अगाध प्रेम था कि उनके पास कृपा पाने हेतु आनेवाले हजारों में से अत्यन्त सामान्य मनुष्य भी उस कृपा लाभ से वंचित नहीं रहता था। इसके फलस्वरूप धीरे-धीरे उन्हें गले का एक बड़ा भयंकर रोग हो गया, परन्तु आग्रह करके भी उन्हें इस कार्य से विरत नहीं किया जा सका। वे जैसे ही सुनते कि बाहर आये हुए लोग उनसे मिलने के इच्छुक हैं, तो वे उन्हें अन्दर बुलाये बिना नहीं मानते और उनके सारे प्रश्नों के उत्तर देते। ऐसा करने से रोके जाने पर वे कहते, "मैं शरीर की परवाह नहीं करता। यदि एक भी मनुष्य की सहायता हो सके, तो मैं ऐसे हजारों शरीर छोड़ने को तैयार हूँ – एक आदमी की भी सहायता कर पाना बड़े सौभाग्य की बात है।" उनके लिए विश्राम था ही नहीं। एक बार एक व्यक्ति ने उनसे पूछा, "महाराज, आप तो बड़े योगी हैं – आप अपना मन थोड़ा अपने शरीर की ओर ही क्यों नहीं लगा देते, जिससे आपकी बीमारी ठीक हो जाय?" पहले तो उन्होंने उत्तर नहीं दिया, परन्तु जब वही प्रश्न कई बार पूछा गया, तो उन्होंने धीरे से कहा, "भाई, मैं तो समझता था कि तुम ज्ञानी हो, परन्तु तुम भी संसार के अन्य लोगों के समान ही बातें करते हो। जिस मन को मैंने पूरी तौर से ईश्वर को अर्पित कर दिया है, उसे क्या अब मैं वापस ले लूँ और इस शरीर पर लगाऊँ, जो आत्मा का केवल पिंजरा मात्र है?"

इस प्रकार वे लोगों को उपदेश देने लगे। अन्त में खबर फैली कि उनका अन्तकाल निकट आ गया है। तब तो पहले से भी अधिक संख्या में लोग उनके पास आने लगे।... मेरे गुरुदेव अपने स्वास्थ्य की जरा भी चिन्ता न करते हुए उन्हें निरन्तर उपदेश देते रहे। हम लोग भी उन्हें इस काम से रोक नहीं सके। बहुत-से लोग तो बड़ी दूर-दूर से आते और मेरे गुरुदेव जब तक उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं दे देते, तब तक विश्राम नहीं करते थे। वे कहते, "जब तक मैं बोल सकता हूँ, तब तक मैं उन्हें उपदेश देता रहूँगा" और उन्होंने वैसा ही किया। एक दिन उन्होंने हम लोगों से कहा – आज मैं इस शरीर का त्याग करूँगा; और वेदों के परम पवित्र शब्दों का उच्चारण करते हुए उन्होंने महासमाधि में प्रवेश किया।[१७]

जब मैंने पश्चिमवालों को चेतना पर इतनी अधिक बातें करते सुना, तो मुझे स्वयं अपने कानों पर विश्वास नहीं हो सका। चेतना? चेतना का क्या महत्त्व है! क्यों, अवचेतन की अथाह गहराई तथा अतिचेतन की ऊँचाइयों से तुलना करने पर वह कुछ नहीं है। इस विषय में मैं भुलावे में नहीं आ सकता, क्योंकि क्या मैंने देखा नहीं है कि श्रीरामकृष्ण परमहंस दस मिनट में ही व्यक्ति के अवचेतन मन से उसका सारा अतीत जान लेते और उसके आधार पर उसका भविष्य और उसकी शक्तियों का निरूपण कर देते थे?[१८]

श्रीरामकृष्ण जिस-तिस के हाथ का नहीं खा सकते थे। ऐसी अनेक घटनाएँ हुईं, जब वे किसी-किसी व्यक्ति का छुआ नहीं खा सके। विशेष खोज करने पर उस व्यक्ति में सचमुच ही कोई-न-कोई बड़ा दोष अवश्य निकला।[१९]

श्रीरामकृष्ण साधना में ढिलाई के विषय में कहा करते थे – "हो रहा है, होगा – ये सब टालने के उपाय हैं।"[२०]

हमने देखा है – जिन्हें हम त्याज्य मानते थे, श्रीरामकृष्ण उन्हें भी प्रोत्साहित करके उनके जीवन की गति को मोड़ देते थे। शिक्षा देने का उनका ढंग ही बड़ा अद्भुत था।... उन्होंने जगत् में किसी का भाव नष्ट नहीं किया। उन्होंने महापतित व्यक्ति को भी अभय और उत्साह देकर उठा लिया है।[२१]

इतिहास बताता है कि भारत ने आन्तरिक जीवन का और पश्चिम ने (बाह्य) सक्रियता का विकास किया है। अभी तक ये एक दूसरे से दूर रहे हैं। अब समय आ गया है कि वे परस्पर मिलें। रामकृष्ण परमहंस जीवन की गहराइयों के प्रति जाग्रत थे, तो भी बाहरी तल पर उनसे अधिक सक्रिय दूसरा कौन था? यही भेद की बात है। आप अपने जीवन को महासागर के समान गहरा बनाइए, परन्तु उसे आकाश के समान विस्तृत भी होने दीजिए।[२२]

हमारे भगवान श्रीरामकृष्ण में कला-शक्ति का बड़ा उच्च विकास हुआ था; और वे कहा करते थे कि बिना इस शक्ति के कोई भी व्यक्ति यथार्थ आध्यात्मिक नहीं हो सकता।[२३]

सीखने को बहुत कुछ है। हमें आजीवन प्रयत्न करना होगा। प्रयत्न ही मानव-जीवन का उद्देश्य है। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "जब तक जीऊँ, तब तक सीखूँ।" जिस व्यक्ति को कुछ सीखना नहीं है, वह मृत्यु के मुँह में जा चुका।[२४]

एक कम बुद्धिवाला लड़का श्रीरामकृष्ण के सामने सदा शास्त्रों की निन्दा किया करता था। एक दिन उसने गीता की बड़ी प्रशंसा की। इस पर श्रीरामकृष्ण बोले, "किसी अंग्रेज विद्वान् ने गीता की प्रशंसा की होगी, इसीलिए यह भी आज उसकी प्रशंसा कर रहा है।"[२५]

श्रीरामकृष्ण परमहंस किसी नवीन तत्त्व को प्रचार करने के लिए आविर्भूत नहीं हुए थे, किन्तु उसे प्रकाश में लाना उनका उद्देश्य था। दूसरे शब्दों में – वे भारत की समग्र अतीत धार्मिक भावनाओं के मूर्त विग्रह-स्वरूप थे। मैं केवल उन्हीं के जीवन से समझ सका हूँ कि प्राचीन शास्त्रों का यथार्थ तात्पर्य क्या है और उसकी रचना किस प्रणाली के अनुसार तथा किस उद्देश्य से हुई है।[२६]

सर्वाधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि उसका समग्र जीवन एक ऐसे शहर के पास व्यतीत हुआ, जो पाश्चात्य भावों से उन्मत्त हो रहा था, जो भारत के सब शहरों की

अपेक्षा विदेशी भावों से अधिक भरा हुआ था। पुस्तकीय ज्ञान से हर तरह से अनभिज्ञ, यह महा-प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति अपना नाम तक लिखना नहीं जानता था। पर हमारे विश्व-विद्यालय के बड़े-बड़े अत्यन्त प्रतिभावान स्नातकों ने उनको एक महान् बौद्धिक प्रतिभा के रूप में स्वीकार किया। वे अद्भुत महापुरुष थे – श्रीरामकृष्ण परमहंस।... सभी भारतीय महापुरुषों की पूर्ण अभिव्यक्ति-स्वरूप, युगाचार्य, जिनके उपदेश आजकल हमारे लिए विशेष कल्याणकारी हैं। उनके भीतर जो ईश्वरीय शक्ति थी, उस पर विशेष ध्यान दो। वे एक निर्धन ब्राह्मण के लड़के थे। उनका जन्म बंगाल के एक सुदूर, अज्ञात, अपरिचित गाँव में हुआ था। आज यूरोप, अमेरिका के हजारों लोग वास्तव में उनकी पूजा कर रहे हैं, भविष्य में और भी हजारों लोग उनकी पूजा करेंगे। ईश्वर की लीला कौन समझ सकता है?... इस समय केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि यदि मैंने जीवन भर में एक भी सत्य वाक्य कहा है, तो वह उन्हीं का, केवल उन्हीं का वाक्य है; पर यदि मैंने ऐसे वाक्य कहे हैं, जो असत्य, भ्रमपूर्ण अथवा मानव जाति के लिए हितकारी न हों, तो वे सब मेरे ही वाक्य हैं और उनके लिए पूरा उत्तरदायी मैं ही हूँ।[२७]

इस प्रकार के किसी एक भाव को ग्रहण कर उसकी सिद्धि प्राप्त करने में या उसकी चरम अवस्था पर पहुँचने के लिए कितने ही जन्मों की चेष्टा लगती है। भाव-राज्य के अधिराज श्रीरामकृष्ण ने अठारह भिन्न-भिन्न भावों से सिद्धिलाभ की थी। वे यह भी कहा करते थे कि यदि वे आध्यात्मिक भावोन्मुखी न रहते, तो उनका शरीर ही न रहता।[२८]

वर्तमान युग में धर्म की यह सब ग्लानि दूर करने के लिए भगवान् शरीर धारण करके श्रीरामकृष्ण-रूप में इस संसार में अवतीर्ण हुए थे। उनके द्वारा प्रदर्शित सार्वभौम मत के प्रचार से ही जीव और जगत् का मंगल होगा। ऐसे सभी धर्मों में समन्वय करने वाले अद्भुत आचार्य ने पिछले कई शताब्दियों से भारत में जन्म नहीं लिया था।[२९]

जगत् के कल्याणार्थ श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव हुआ था। अपनी-अपनी भावनानुसार तुम उनको मनुष्य, ईश्वर, अवतार – जो कुछ कहना चाहो – कह सकते हो। जो कोई उनको प्रणाम करेगा, तत्काल ही वह स्वर्ण बन जायेगा।[३०]

जिस दिन श्रीरामकृष्ण ने जन्म लिया है, उसी दिन से वर्तमान भारत तथा सत्ययुग का आविर्भाव हुआ है।[३१]

मुझे ऐसा लगता है कि श्रीरामकृष्ण देश की हर प्रकार की विद्या में भाव संचारित करने के लिए ही आये थे।[३२]

श्रीरामकृष्ण-अवतार में ज्ञान, भक्ति तथा प्रेम – अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रेम, अनन्त कर्म और सभी जीवों के लिये अनन्त करुणा विद्यमान है। अभी तक तुम उन्हें समझ नहीं सके हो। **...** युगों से जो समग्र हिन्दू जाति के चिन्तन का विषय रहा, उसकी उन्होने अपने एक ही जीवन में उपलब्धि कर ली। इनका जीवन सब जातियों के शास्त्रों का सजीव भाष्य-स्वरूप है। लोगों को धीरे-धीरे इसका पता लगेगा।[३३]

प्रश्न है कि क्या भविष्य रामकृष्ण को काली का अवतार कहेगा? हाँ, मैं समझता हूँ कि निस्सन्देह उसी ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए रामकृष्ण के शरीर का निर्माण किया था।[३४] उन (श्रीरामकृष्ण) को वह महान् जीवन जीने मात्र में ही सन्तोष था। उसकी व्याख्या की खोजबीन उन्होंने दूसरों पर छोड़ दी थी।[३५]

श्रीरामकृष्ण के पास आना-जाना करके सभी लोग धर्म की अनुभूति की ओर अग्रसर हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे। वे कहा करते थे, "अवतार के साथ दूसरे कल्पों के सिद्ध ऋषिगण देह धारण कर जगत् में पधारते हैं। वे ही भगवान् के साक्षात् पार्षद हैं। उन्हीं के द्वारा भगवान कार्य करते हैं या जगत् में धर्मभाव का प्रचार करते हैं।" यह जान लो कि अवतार के संगी-साथी एकमात्र वे लोग हैं जो दूसरों के लिए सर्वत्यागी हैं, जो भोग-सुख को काक-विष्ठा की तरह छोड़कर 'जगद्धिताय'-'जीवहिताय' आत्मोत्सर्ग करते हैं।...

उनके भाव-समुद्र का एक बूँद भी यदि कोई धारण कर सके, तो वह देवता बन सकता है। विश्व के इतिहास में ढूँढ़ने पर सब भावों का ऐसा समन्वय क्या अन्य कहीं भी मिल सकता है? इसी से समझ लो कि उनके रूप में कौन देह धारण कर आये थे! अवतार कहने से तो उन्हें छोटा कर दिया जाता है। जब वे अपने संन्यासी सन्तानों को उपदेश दिया करते थे, तो बहुधा स्वयं उठकर चारों ओर देख लेते थे कि वहाँ पर कोई गृहस्थ तो नहीं है, और जब देख लेते कि कोई नहीं है, तभी ज्वलन्त भाषा में त्याग और तपस्या की महिमा का वर्णन करते थे। उसी संसार-वैराग्य की प्रचण्ड उद्दीपना से ही तो हम संसार-त्यागी उदासीन हैं।[३६]

सन्दर्भ-सूची – **❖ (क्रमशः) ❖**

१३. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड ४, पृ. ७५; **१४.** वही, खण्ड ६, पृ. २२२; **१५.** श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, खण्ड १, पृ. ४२३; **१६.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ३२३४; **१७.** वही, खण्ड ७, पृ. २६५-६६; **१८.** वही, खण्ड ८, पृ. १४०; **१९.** वही, खण्ड ६, पृ. १४६; **२०.** वही, खण्ड ६, पृ. १६५; **२१.** वही, खण्ड ६, पृ. ११२-१३; **२२.** वही, खण्ड ४, पृ. २६४; **२३.** वही, खण्ड १०, पृ. ४३; **२४.** वही, खण्ड ९, पृ. २२६; **२५.** वही, खण्ड ९, पृ. २२६; **२६.** वही, खण्ड ४, पृ. २९९; **२७.** वही, खण्ड ५, पृ. १६१-६२; **२८.** वही, खण्ड ६, पृ. २२; **२९.** वही, खण्ड ६, पृ. २३; **३०.** वही, खण्ड ३, पृ. ३०१; **३१.** वही, खण्ड ४, पृ. ३०९; **३२.** वही, खण्ड ६, पृ. १७४; **३३.** वही, खण्ड ४, पृ. ३१०-११; **३४.** वही, खण्ड ८, पृ. १३०; **३५.** वही, खण्ड ८, पृ. १२७; **३६.** वही, खण्ड ६, पृ. २३०-३१

ईमानदारी का गुण

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

आज सर्वत्र हमें यह बात सुनने को मिलती है कि ईमानदारी एक गुण नहीं, बल्कि दुर्गुण है। लोग कहते हैं कि जो व्यक्ति ईमानदार होगा, वह जीवन में उन्नति नहीं कर सकता। इसके कई उदाहरण दिये जाते हैं। यदि व्यापारी या उद्योगपति ईमानदार होगा, तो उसका धन्धा बैठ जायगा। यदि वह अपनी कमाई सचाई से बताता रहे, तो आयकर विभाग वाले उसकी लुटिया डुबो देंगे। यदि किसी साल उसे घाटा पड़ा, तो वे उसकी बात नहीं मानेंगे और अधिक आय वाले वर्ष के आधार पर ही घाटे वाले वर्ष में भी उसके आयकर का निर्धारण करेंगे। यदि मातहत कर्मचारी ईमानदार हुआ, तो वह अपने 'बॉस' को खुश नहीं कर सकेगा। चाहे शासन का कोई भी विभाग हो 'बॉस' को खुश करने की प्रक्रिया में मातहत अधिकारी को बेईमान बनना ही पड़ता है – यह बात आज हमें हर जगह सुनाई पड़ती है। इसलिए लोग कहने लगे हैं कि "Honesty does not pay" अर्थात् ईमानदारी से काम नहीं बनता। ईमानदार व्यक्ति को लोग outdated यानी पिछड़ा हुआ मानते हैं।

फिर दूसरे हैं, जो ईमानदारी को एक गुण तो मानते हैं, पर यह कहते हैं कि आज जब सब लोग बेईमान हैं, तब मैं अकेला ईमानदार बनकर क्या करूँगा? उनका तर्क है कि अकेला चना क्या भाड़ फोड़ेगा? वे महाभारत के एक वाक्यांश का उद्धरण देते हुए कहते हैं – "**शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्**" - अर्थात् दुष्ट के प्रति दुष्टता का ही व्यवहार करना चाहिए। यदि दूसरा व्यक्ति सरल और निष्कपट हो, तब तो उसके साथ सरलता और निष्कपटता से पेश आया जा सकता है, पर यदि दुष्ट हो, छली और कपटी हो, तब उसके सन्दर्भ में सरलता और निष्कपटता के व्यवहार का कोई मतलब नहीं।

अब ये दोनों तर्क वजनी लगते हैं। मेरे एक सम्मान्य मित्र हैं। रविशंकर विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति थे। उन्हें एक वर्ष अपनी पुस्तकों की रायल्टी मिली। स्वाभाविक ही आय अधिक हुई। वे ईमानदारी की प्रतिमूर्ति हैं। वे अपनी आय का एक नया पैसा तक हिसाब में लाने में भूल नहीं करते। पर आयकर विभाग वालों ने उस वर्ष की आय के आधार पर अन्य वर्षों की भी आय पकड़ ली और उन पर आयकर ठोक दिया। उन्होंने ऋण लेकर आयकर पटाया। यह बात दूसरी थी कि अधिक पटाया गया आयकर उन्हें बाद में लम्बे समय के बाद वापस कर दिया गया, पर उन्हें बहुत मानसिक और शारीरिक परेशानी हुई होगी, इस तथ्य से भला कौन इन्कार कर सकता है? उनके आयकर प्रकरण के सुलझने में इतना विलम्ब इसलिए लगा कि उन्होंने सम्बन्धित अधिकारियों को खुश करने से मना कर दिया।

यह घटना पूर्व में ईमानदारी के विपक्ष में कही गयी दोनों तर्कों को ही पुष्ट करती है।

प्रश्न उठता है कि ईमानदारी को तब जीवन में क्यों स्थान दिया जाय? इसलिए कि ईमानदारी ही मनुष्य के अस्तित्व का मूल आधार है, उसका धर्म है। जैसे अग्नि का धर्म ताप है और उसके नष्ट होने पर अग्नि का अग्नित्व ही नष्ट हो जायगा, वैसे ही ईमान मनुष्य का धर्म है और उसके नष्ट होने से मनुष्यता ही नष्ट हो जायगी। आज मानवता नाश के कगार की ओर इसीलिए जा रही है कि उसका ईमान टूट रहा है। हम यह दलील तो देते हैं कि ईमानदारी से काम नहीं बनता, पर अपने लिए व्यवहार में ईमानदारी चाहते हैं। यह हमारे जीवन की एक महती विडम्बना है। हम चाहते हैं कि हमें दुनिया से धोखाधड़ी करने की छूट मिलनी चाहिए, पर हम यह नहीं चाहते कि कोई हमसे धोखाधड़ी करे। हम दूसरों से बेईमानी का बर्ताव करने को जमाने की चाल मानते हैं, पर यदि कोई हमसे बेईमानी के बर्ताव करता है, तो हम नाखुश होते हैं। क्या हम चाहेंगे कि मेरा बेटा, मेरा पति, मेरा भाई, मेरा पिता, मेरा नौकर, मेरा मातहत कर्मचारी मेरे प्रति बेईमान हो? क्या हम पत्नी को हमारे अपने प्रति बेईमान होने की छूट दे सकते हैं? यदि हम ऐसा नहीं कर सकते, तो हमें कतई यह कहने का अधिकार नहीं है कि ईमानदारी से काम नहीं बनता। मनुष्य को अपनी यह दुरंगी चाल बदलनी पड़ेगी। फिर यह जो दलील दी गयी कि अकेले हम ईमानदार बनकर क्या करेंगे, उसके उत्तर में कहना यह है कि यदि हम मानवता के हितैषी हैं, तो हमें अपने जीवन से ही ईमानदारी का पाठ शुरू करना होगा। अंगरेजों की सल्तनत का विरोध अकेले महात्मा गाँधी ने ही शुरू किया। उनका दृष्टान्त हमें प्रेरणा प्रदान करता रहेगा। ❑❑❑

साधना, शरणागति और कृपा (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु ।। १/१४२
बरबस राज सुतहि तब दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा ।।
तीरथ बर नैमिष बिख्याता। अति पुनीत साधक सिधि दाता ।।
बसहिं तहाँ मुनि सिद्ध समाजा। तहँ हियँ हरषि चलेउ मनु राजा।
पंथ जात सोहहिं मतिधीरा। ग्यान भगति जनु धरें सरीरा ।।
पहुँचे जाइ धेनुमति तीरा। हरषि नहाने निरमल नीरा ।।
आए मिलन सिद्ध मुनि ग्यानी। धरम धुरंधर नृपरिषि जानी ।।
जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाए। मुनिन्ह सकल सादर करवाए ।।
कृस सरीर मुनिपट परिधाना। सत समाज नित सुनहिं पुराना ।।
द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग ।।१४३।।

परम श्रद्धेय स्वामीजी महाराज और अन्य समुपस्थित सन्तों के चरणों में मैं सादर नमन करता हूँ! आप सब का हार्दिक अभिवादन है। अभी आपने परम श्रद्धेय स्वामीजी महाराज से कल की कथा की कुछ सूत्रों की चर्चा सुनी।

वस्तुत: जब मैं भगवान कृष्ण और स्वामी विवेकानन्दजी की जीवनी पढ़ता हूँ और उनके उपदेशों पर मेरी दृष्टि जाती है, तो उसमें और रामकथा में इतना साम्य लगता है कि मुझे उनमें रंचमात्र भी भिन्नता प्रतीत नहीं होती। यह वस्तुत: एक महानतम संस्था है, जिसका लक्ष्य आत्मसुख होते हुए भी आप सब कुछ छोड़कर यहाँ निरन्तर लोक-कल्याण हेतु सेवा में सन्नद्ध हैं। इनकी कितनी अनुकम्पा है और कितना बड़ा त्याग है! हमें विश्वास है कि आप सब इस सन्दर्भ में अपना भाग दान के रूप में देकर धन्यता का ही अनुभव करेंगे। यह कोई दया की बात नहीं होगी। यह तो आपके लिये कर्तव्य से भी आगे बढ़कर पूजा की वस्तु होगी। जो क्रम चल रहा है, अब उसी पर आगे दृष्टि डालने की चेष्टा करें।

महाराज मनु के जीवन के द्वारा गोस्वामीजी ने मानव-जीवन में साधना का जो क्रम होना चाहिए, उस क्रमिक पद्धति का बड़ा ही सुन्दर और बड़े विस्तार से वर्णन किया। ऐसे भी महापुरुष होते हैं, जो क्रमिक साधना के मार्ग से नहीं चलते। सांकेतिक रूप से जैसे श्री हनुमानजी हैं। उन्हें चाहे कोई भगवद्कोटि का सिद्ध सन्त कहे या भगवान कहे; पर उनके चरित्र में साधना का वह क्रमिक रूप नहीं है, जो महाराज मनु के जीवन में आपके सामने प्रस्तुत किया गया।

हम वर्णन पढ़ते हैं – हनुमानजी के चरित्र में बार-बार छलाँगों का वर्णन आता है। जन्म लेते ही जब उन्हें भूख लगी, तो उन्होंने सूर्य को फल समझ लिया और छलाँग लगाई। बाद में जब उन्हें जनकनन्दिनी का पता लगाने के लिये भेजा गया, तो उन्होंने दूसरी छलाँग लगाई। और जब लंका के रणांगण में लक्ष्मण मूर्छित हुए, तब उन्होंने तीसरी छलाँग लागई। वह छलाँग बड़ी दिव्य और अद्‌भुत है।

एक मार्ग वह है जिसे हम सोपान मार्ग कह सकते हैं। कहीं चढ़ना हो, तो हम लोग सीढ़ी के द्वारा चढ़ते हैं और अधिकांश लोगों के लिये तो उपयुक्त क्रम वही है। साधना के सन्दर्भ में क्रमिक साधना की पद्धति मानो सोपान का मार्ग है – व्यक्ति क्रमश: धीरे-धीरे कैसे आगे बढ़े! पर हनुमानजी तो बाल-ब्रह्मचारी हैं। आरम्भ से ही उनमें रंचमात्र भी कोई आसक्ति ही नहीं है। कहते हैं कि उन्हें भूख लगी, तो भूख किसे नहीं लगती! परन्तु भूख लगने पर व्यक्ति फल चाहता है। चाहे वह अर्थ का फल चाहता हो कि पैसा मिले, काम का फल चाहता हो कि हमारी भोग लालसा पूरी हो, या बहुत आगे बढ़े तो व्यक्ति के मन में धर्म की लालसा जागृत होती है। अर्थ की लालसा का अभिप्राय है कि जब व्यक्ति को लगे कि संग्रह में ही बड़ा सुख है। अर्थ का सुख संग्रहण का सुख है। जब संग्रह का अंक धीरे-धीरे बढ़ता जाता है, भले ही व्यक्ति उस संग्रह का भोग न कर सके, पर उसे यह सोचकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि मेरे पास इतना धन है। इसके बाद मनुष्य के मन में आता है कि धन के द्वारा हम अधिक-से-अधिक भोगों को प्राप्त कर सकें। उसे लगता है कि भोग में सुख है, यही मानो काम का सुख है। संग्रह करके सुखी होना – अर्थ की प्रवृत्ति है और भोग करके सुखी होना – यह काम की प्रवृत्ति है। और जब व्यक्ति उससे भी आगे बढ़ता है, तो उसे लगता है – नहीं, नहीं, देने में ही सुख है, दान करने में सुख है। तो देने में सुख की अनुभूति हो, तो वह मानो धर्म है; भोगने में सुख की अनुभूति हो तो वह काम है और संग्रह में अनुभूति हो, तो अर्थ है। पर चौथा एक सुख है मोक्ष – जो इन सबसे निरपेक्ष है।

संसार के इन सुखों के साथ कोई-न-कोई समस्या लगी है। पहली समस्या है कि यदि जीवन में अर्थ न प्राप्त हो। फिर यदि अर्थ का संग्रह हो और उसके बाद भी जीवन में असन्तोष बढ़ता रहे, तो संग्रह का सुख अधूरा हो जायगा। काम के सुख में – भोग के बाद जो रोग होंगे, उनके द्वारा वह सुख भी नष्ट हो जाता है। फिर धर्म के सुख के साथ भी यह समस्या है कि यदि दान का बड़ा महत्त्व है, उसे देना है, तो व्यक्ति के पास देने के लिये होना भी तो चाहिए। पहले वह पाने की चेष्टा करे, फिर दान करे और उसके बाद फिर पाने की चेष्टा करे। तो ये तीनों सुख जीवन से जुड़े हुए हैं। इनका महत्त्व है और इसीलिए हमारे शास्त्रकारों ने इसका तिरस्कार नहीं किया है। उन्होंने कहा – हाँ, ये चार फल हैं। ये तीन फल हुए और उनके साथ-साथ चौथा फल – मोक्ष भी है। मोक्ष का सम्बन्ध न तो संग्रह से है, न भोग से और न दान से। निरपेक्ष आत्मसुख को मोक्ष-फल कहते हैं।

तो सभी लोग फल पाने के लिये व्यग्र हैं। शरीर में भूख लगती है, तो भी हमें फल चाहिए और अन्य प्रकार की भूख लगती है, तो भी फल चाहिए। परन्तु हनुमानजी ने सूर्य को फल समझ लिया, तो कुछ लोग समझते हैं कि उनको भ्रम हो गया। हनुमानजी को भ्रम हो गया? इन्द्र के मन में भी यही बात आ गई थी कि हनुमानजी को भ्रम हो गया है। पर वस्तुतः हनुमानजी की भूख भिन्न प्रकार की थी। जहाँ हनुमानजी का जन्म हुआ, वहाँ तो वन भी था, वृक्ष भी थे और उनमें फल भी लगे हुए थे; परन्तु उन फलों का कोई आकर्षण हनुमानजी के जीवन में नहीं है। ऊपर जो प्रकाशमय ज्ञान-फल है, हनुमानजी का छलाँग उसी को पाने का उपाय है। इस छलाँग का अर्थ है कि उनके जीवन में सीढ़ी से चलने की कोई जरूरत नहीं। वे आजीवन बाल-ब्रह्मचारी रहे, अर्थ की आकांक्षा नहीं, काम की आकांक्षा नहीं और धर्म की वृत्ति भी उन्हें आकृष्ट नहीं कर पाती। हनुमानजी जैसी छलाँग केवल हनुमानजी ही लगा सकते हैं।

इस छलाँग के मार्ग में कठिनाइयाँ न आती हों, ऐसी बात नहीं। आप जानते हैं कि सूर्य की ओर हनुमानजी की वह छलाँग कितनी बड़ी थी, पर उसके साथ जो समस्याएँ थी, उनको यहाँ विस्तार देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु वहाँ भी इन्द्र के वज्र का प्रहार होता है। बड़ी सांकेतिक भाषा है। कहा जाता है कि हनुमानजी जब सूर्य की ओर बढ़ रहे थे, तभी सूर्य-ग्रहण लगने वाला था। हनुमानजी का जन्म कार्तिक कृष्ण चतुदर्शी को सायंकाल में हुआ। तो सायंकाल के बाद अमावस्या की तिथि आ गई और सूर्यग्रहण अमावस्या को ही लगता है। उस समय सूर्य पर ग्रहण लगने ही वाला था, इसलिए एक ओर से राहु सूर्य की ओर आ रहा था और दूसरी ओर से हनुमानजी। हनुमानजी तो राहु से पहले पहुँच गये और सूर्य को मुख में धारण कर लिया। राहु बड़ा क्रुद्ध हुआ कि यह कौन आ गया? जब वह आगे बढ़ा, तो हनुमानजी ने उसको पूँछ से उठाकर ऐसा फेंका कि बेचारा घायल हो गया। उसने इन्द्र के पास जाकर उलाहना दी।

कैसी विचित्र विडम्बना है? यह ऐसी स्थिति है, जहाँ दैत्य और देवता – दोनों एक पक्ष में हो गए। राहु तो राक्षस है, दैत्य है और इन्द्र देवता हैं। परन्तु उस समय राहु ने इन्द्र से कहा कि नियम के अनुसार 'ग्रहण' तो इस समय मेरे द्वारा ही होना चाहिये, लेकिन यह कोई नया राहु आ गया है क्या? तब इन्द्र ने क्रुद्ध होकर हनुमानजी पर वज्र का प्रहार किया। यह बड़ी आध्यात्मिक भाषा है।

व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम चाहता है। इन्हें वह पुण्य से भी पा लेता है और पाप से भी पा लेता है। काम को पाप-मार्ग से भी पाया जा सकता है और पुण्य-मार्ग से भी। धर्म का मार्ग पुण्य का मार्ग है, परन्तु मोक्ष किसी को पसन्द नहीं आता। राक्षसों को तो यह अच्छा ही नहीं लगता, देवताओं को भी अच्छा नहीं लगता। देवता भी कभी किसी व्यक्ति को मोक्ष की दिशा में बढ़ते देखकर प्रसन्न नहीं होते।

गोस्वामीजी ने ज्ञानदीपक के प्रसंग में बड़ा मधुर संकेत दिया है। पाप और असद्-वृत्तियाँ तो ज्ञान की विरोधी हैं ही। लेकिन हमारे शास्त्र कहते हैं कि प्रत्येक इन्द्रिय का अधिष्ठातृ-देवता ज्ञानदीपक जलाने में बाधाएँ खड़ी करता है। बड़ी सांकेतिक और तार्किक भाषा है। जब आप नेत्र के द्वारा कोई वस्तु ग्रहण करते हैं, तो देवता उसका आनन्द लेते हैं। जब वे देखते हैं कि यह व्यक्ति मोक्ष के मार्ग पर बढ़ रहा है, तो उसको लगता है कि यह मेरी पूजा बन्द कर देगा। यह मुझे तृप्त नहीं करेगा। तो क्या करना चाहिए? अब बाहर से यदि कोई आक्रमण करने वाला है, तो आप तैयार हो जाइए। पर आपके भीतर ही आसपास ऐसे रक्षक हों, पहरेदार हों, जो दरवाजा खोल दें, तब तो बड़ी समस्या है। गोस्वामीजी कहते हैं कि इतनी कठिन साधना के बाद यदि कोई ज्ञानदीपक जला भी लेता है, तो अब देवता बाधा डालते हैं। क्योंकि इन्द्रियों में स्थित देवताओं को ज्ञान अच्छा नहीं लगता –

इंद्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई।
विषय भोग पर प्रीति सदाई।। ७/११८/१५

उनको लगता है कि इससे तो मेरे लिये सब कुछ निःशेष हो जायगा; मेरी कोई स्थिति ही नहीं रह जायगी। पौराणिक कथा में आता है कि भगवान श्रीकृष्ण ने जब गोकुलवासियों को इन्द्र की पूजा बन्द करके गोवर्धन की पूजा के लिए प्रेरित किया, तो इन्द्र ने क्रुद्ध होकर वर्षा के द्वारा व्रज को बहा देने की चेष्टा की। वैसे ही जब भी कोई ज्ञान की दिशा में बढ़ने लगता है तो लोग उसके सामने भोग की सामग्री जरूर लाते

हैं। मनुष्य-स्वभाव में कुछ ऐसी ही विडम्बना है। जिनको जरूरत है, उनको देने में तो वह कृपणता करता है, परन्तु जो उन आवश्यकताओं से अलग हो गये हैं, उन्हें अधिक-से-अधिक भोग देना चाहता है। तो जब देवता ऐसा अवसर देखते हैं तो क्या करते हैं? विषयों को प्रवेश करने के लिए द्वार खोल देते हैं और सुविधा दे देते हैं –

आवत देखहिं बिषय बयारी ।
ते हठि देहिं कपाट उघारी ।। ७/११८/१२

हृदय रूपी घर में ज्योंही वह तेज हवा जाती है, त्योंही वह ज्ञानदीपक बुझ जाता है। गाँठ भी नहीं खुली और वह प्रकाश भी मिट जाता है। इसके बाद बुद्धि विषय-रूपी वायु से व्याकुल हो जाती है –

जब सो प्रभंजन उर गृहँ जाई ।
तबहिं दीप बिग्यान बुझाई ।।
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा ।
बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा ।। ७/११८/१३-४

यह ज्ञान या विज्ञान का मार्ग इतना कठिन है। देवता भी उसको सहज रूप से स्वीकार नहीं करते। भले ही बाद में वे इसे समझ लेते हैं और सम्मान भी करते हैं, जैसा कि हनुमानजी के चरित्र में हुआ। परन्तु प्रारम्भ में तो राहु भी हनुमानजी पर क्रुद्ध है और देवराज इन्द्र भी। हनुमानजी महानतम और दिव्य चरित्रवाले हैं। वे छलाँग के द्वारा, सूर्य को न केवल मुख में धारण कर लेते हैं, अपितु उन्हें गुरु के रूप में स्वीकार कर उनसे शिक्षा भी प्राप्त करते हैं। वस्तुत: वे ज्ञान को बचा लेते हैं कि ज्ञान कहीं राहु जैसे व्यक्ति के मुख में जाकर अन्धकार की सृष्टि करनेवाला न बन जाय।

हनुमानजी की जो छलाँग है, वह हर किसी के बस की बात नहीं है। जब वे श्रीसीताजी की खोज में गये, तो बन्दर भी उनके साथ थे, परन्तु वे सब बन्दर लंका गये भी तो सेतु के मार्ग से ही गये। सारे बन्दरों में एकमात्र हनुमानजी ही ऐसे हैं कि जो इतनी बड़ी छलाँग लगाकर देहाभिमान के समुद्र को पार कर सकते हैं और उसके मार्ग में आनेवाली विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

फिर हनुमानजी की वह तीसरी छलाँग, जहाँ लक्ष्मणजी-रूपी वैराग्य मूर्छित है। जब प्रवृत्ति-वैराग्य मूर्छित हुआ, तो निवृत्ति-वैराग्य को उसके लिये औषधि लाने का कार्य सौंपा गया – और वह भी एक सीमित अवधि में। अवधि बहुत कम है। सुषेण वैद्य ने एक समय बता दिया कि सूर्योदय से पहले ही औषधि आ जानी चाहिए। यह महानतम कार्य कोई साधारण व्यक्ति पूरा नहीं कर सकता था। हनुमानजी हैं दारुण प्रभंजन-तनय, इसलिये यह उन्हीं के लिये सम्भव था। हनुमानजी की यह तीसरी छलाँग थी। उनकी पहली छलाँग ज्ञान की ओर थी – सूर्य ज्ञान है। दूसरी छलाँग भक्तिरूपा सीताजी के पास पहुँचने के लिये थी और यह तीसरी छलाँग वैराग्य की रक्षा के लिये थी।

हनुमानजी ही इस छलाँगवाले मार्ग से जाने का महानतम कार्य कर सकते हैं। यहाँ रामकृष्ण मिशन आश्रम के सन्दर्भ में भी यही बात दिखाई देती है। यहाँ जो ब्रह्मचर्य तथा संन्यास में आरूढ़ हैं, ये गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट नहीं होते और यह निश्चित रूप से छलाँग का मार्ग है। जिनकी वृत्ति विषय के प्रति आकृष्ट नहीं है, वासनाएँ शेष नहीं हैं, वे इस मार्ग के द्वारा सीधे उस महान् लक्ष्य को पा सकते हैं। पर साधारण व्यक्ति के लिए रामचरित-मानस में अनेक साधना क्रमों का वर्णन किया गया। व्यक्ति को स्वयं यह निर्णय करना है अथवा सन्त या गुरु के द्वारा यह निर्णय करा लेना है कि उनमें से आपके लिए कौन-सा मार्ग उपयोगी है।

मनु का मार्ग क्रमश: धीरे-धीरे आगे बढ़ने का मार्ग है। मनु जब निर्णय करते हैं कि ईश्वर को प्राप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है, उसके बिना जीवन कृतार्थ नहीं होता। कृतार्थ माने जिसने सब कुछ कर लिया। कुछ भी करना शेष नहीं रहा। जब तक कुछ भी करने के लिए बचा हुआ है, तो समझ लीजिए कि जीवन में पूर्णता नहीं आई है। जब तक हमारे मन में कुछ पाने की अभिलाषा है, तब तक हमें कर्म करना ही होगा। कर्म के प्रति आसक्ति ही यह सिद्ध करती है कि व्यक्ति कुछ पाना चाहता है। अत: व्यक्ति यदि उस वृत्ति में आरूढ़ है, तो कर्म करेगा। एक ऐसी स्थिति आती है, जब व्यक्ति को अनुभव होता है कि मुझे पाने को कुछ नहीं बचा और तब उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं रह जाता –

तस्य कार्यं न विद्यते ।। गीता, ३/१७

राम-चरित-मानस के अनुसार भी अपने स्वरूप को पहचान लेने के बाद फिर कर्म की अपेक्षा नहीं रहती –

कर्म की होहिं स्वरूपहि चीन्हें ।। ७/११२/३

पर इससे यह न समझ लीजिएगा कि जो महान् ज्ञानी या जीवन्मुक्त होते हैं, वे कुछ करते ही नहीं। यदि आप कहें कि वे कुछ करेंगे नहीं, बस, सोये रहेंगे, परन्तु सोना भी तो एक कर्म ही है। ऐसा कोई भी दिखाई नहीं देता, जो बिना कुछ किये रह सकता हो। बड़ा मधुर संकेत है – धनुष टूटने के बाद राजा जनक विश्वामित्रजी से बोले – महाराज, आज तो इन दोनों भाइयों ने मुझे कृतकृत्य कर दिया –

मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाईं । १/२८६/६

इसमें क्या संकेत है? अभिमान का धनुष, चाहे जितना भी श्रेष्ठ क्यों न हो, जब तक वह विद्यमान है, कृतकृत्यता नहीं आ सकती है। यह साधारण अभिमान नहीं – शिव का धनुष है। शिव अभिमान भी होता है, पर अन्तिम स्थिति तो वह है, जब वह भी समाप्त हो जाय। परन्तु वह समाप्ति व्यक्ति के वश में नहीं है। यहीं आकर बात कृपा पर अटक

जाती है। यहाँ कोई प्रयत्न या कोई साधना नहीं है, जो उस अभिमान को नष्ट करे। इसीलिए भगवान शंकर के धनुष को तो एकमात्र भगवान ही तोड़ सकते हैं। जब दिव्य सात्त्विक अभिमान रूपी शिव-धनुष नष्ट हो गया, तब महाराज जनक को अनुभव हुआ कि अब कोई कर्तव्य नहीं बचा है। जब तक उनमें 'मैं' शेष था, तब तक यह वृत्ति भी थी कि सीता मेरी पुत्री है। मेरी पुत्री का विवाह होना चाहिए। पिता का कर्तव्य है कि पुत्री के लिये योग्यतम वर चुने। मैंने प्रतिज्ञा की है और उसके द्वारा मैं यह चाहता था कि मेरी पुत्री को योग्य वर मिले। उनकी वृत्ति चाहे जितनी भी ऊँची रही हो, पर धनुष न टूटने पर उनको दुख होना स्वाभाविक ही था। वे व्याकुल स्वर में कहने लगे – समझ में नहीं आता कि क्या करूँ! यदि प्रतिज्ञा छोड़ दूँ, तो सत्य चला जायगा और यदि प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहता हूँ, तो कन्या कुँवारी रह जायगी –

सुकृतु जाइ जौं पनु परिहरऊँ।
कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ।। १/२५२/५

आप परोपकार का ही ऊँचा-से-ऊँचा संकल्प लें और सोचें कि मुझे उसे पूरा करना है, परन्तु उसके पूरा न होने पर आपको कष्ट तो होगा ही। जनक जैसे व्यक्ति को भी हुआ। वह कष्ट तब दूर हुआ, जब अहं ही नहीं रह गया। 'मैं' के बिना न कोई कर्म हो सकता है और न कोई साधना। जब तक 'मैं' है, तब तक कर्म है।

सुतीक्ष्णजी के प्रसंग में बड़ा सुन्दर संकेत है। भगवान राम जब वनयात्रा में जाते हैं, तो सुतीक्ष्णजी को समाचार मिला कि श्रीरामभद्र जनकनन्दिनी सीताजी और लक्ष्मणजी के साथ आ रहे हैं। वे श्रीराम के महान् भक्त थे। श्रीराम के प्रति उनकी अनन्य भक्ति थी। उन्होंने ज्योंही सुना, त्योंही तीव्र गति से दौड़े। पर बाद में बीच मार्ग में बैठ गये। दौड़ना साधना की पद्धति है, कितनी शीघ्रता से चले – दौड़े –

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना।
नाम सुतीछन रति भगवाना।।
मन क्रम बचन राम पद सेवक।
सपनेहुँ आन भरोस न देवक।।
प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा।
करत मनोरथ आतुर धावा।। ३/१०/१-३

दौड़ तो पड़े, पर वे बड़े भावुक थे, विचारयुक्त थे, उनके मन में चिन्तन होने लगा। सोचने लगे – मैं प्रभु के पास जा तो रहा हूँ, पर क्या मेरे जीवन में उनको प्रसन्न करने योग्य कोई वस्तु है? सचमुच उनमें वह वृत्ति थी। जब वे देखने लगे। तो सचमुच उन्हें अपने में कुछ नहीं दिखाई दिया।

मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं।
भगति बिरति न ग्यान मन माहीं।। ३/१०/६

विश्वास की बड़ी महिमा गायी गयी है। कई बार तो लोग कह देते हैं – **विश्वासं फल-दायकम्** – आपका विश्वास ही फल दे देता है? परन्तु यह विश्वास कर सकना क्या व्यक्ति के बस में है? कर्म करना सरल है, पर विश्वास करना बहुत-बहुत कठिन है – कठिनतम नहीं, तो असम्भव-प्राय है। इसलिए उनके मन में पहली बात यह आई कि भक्ति का आधार तो भरोसा है, विश्वास है। मेरे जीवन में विश्वास है क्या? कोई पूछ सकता था – यदि विश्वास न होता, तो आप इस तरह का जीवन कैसे व्यतीत करते? तो उन्होंने एक शब्द जोड़ दिया – बोले – विश्वास तो है, पर दृढ़ नहीं है।

कौन कह सकता है कि किसी स्थिति में हमारा भरोसा नहीं टूटेगा, कम नहीं होगा। साधक के जीवन में बार-बार ऐसी स्थिति आती है, जब उसका विश्वास डगमगा जाता है। जो बड़े विश्वासपूर्वक साधना-पथ पर चलते हैं, उनके जीवन में भी ऐसे विचित्र अवसर आते हैं, कठोर अवसर आते हैं, जब उनका विश्वास डगमगा जाता है। तो सुतीक्ष्णजी को लगा कि मुझमें न भक्ति है, न ज्ञान है, न वैराग्य। – अच्छा, आप रहते तो सन्तों के बीच में हैं, तो क्या स्वयं सन्त नहीं हैं! बोले – नहिं सतसंग – अरे, सन्त के पास पहुँच जाना और सन्तों के बीच में रह जाना ही सत्संग नहीं है।

भक्ति की सरलता के साथ-साथ कोई-न-कोई ऐसा शब्द कह दिया जाता है कि सारा अर्थ ही बदल जाता है।

संतसभा चहुँ दिसि अवँराई।
श्रद्धा रितु बसंत सम गाई।। १/३७/१२

कह दिया गया कि सन्तों की सभा ही चारों ओर फैली अमराई है। यह स्वाभाविक है कि आम के वृक्ष में बड़े मधुर फल होते हैं। परन्तु वे मधुर फल प्रत्येक महीने में तो नहीं मिलते। जब बसन्त में बौर आते हैं, तब फल लगते हैं। फल बड़े होते हैं, पकते हैं, उनमें रस आता है। इसमें संकेत यह है कि सन्त के पास जाएँ, पर यदि साथ में श्रद्धा का बसन्त लेकर नहीं जायेंगे, तो कुछ नहीं मिलेगा। आम के बाग में आप वर्षा या शीत ऋतु में चले जाएँ, तो कुछ नहीं केवल वृक्ष-ही-वृक्ष खड़े हैं। सुतीक्ष्णजी बोले – सन्तों के बीच रहकर भी मैंने कुछ पाया नहीं, मुझमें श्रद्धा भी नहीं है, जप भी नहीं है। आप पूछ सकते हैं – आश्रम में रहकर क्या वे जप नहीं करते थे? पर जब वे कह रहे हैं – जप नहीं है, तो इस 'नहीं' का अर्थ यह हुआ कि वे अपनी जप-साधना को इतनी कड़ी कसौटी पर कसते हैं कि उन्हें अपना जप – जप नहीं लगता। हम लोगों के जीवन में एक बड़ी विडम्बना है – यह विरोधाभास है कि दूसरों को देखने के लिये तो हम इतनी कड़ी कसौटी बना लेते हैं कि किसी को उत्तीर्ण ही नहीं करते। और अपने लिये इतनी सरल कसौटी रखते हैं कि हम तो इतना जप करते हैं! इतना हो गया! उस पर बड़े गर्व का भी अनुभव करते हैं, परन्तु सुतीक्ष्णजी इतने बड़े

साधक हैं, तो भी कहते हैं – मेरे जीवन में तो कुछ नहीं है – न सत्संग, न योग, न जप, न याग। – कुछ नहीं है तो फिर जा क्यों रहे हैं? यदि कुछ नहीं है, तो मत जाइए। वे बोले – "हाँ, मेरे पास तो उन्हें रिझाने योग्य कोई गुण नहीं है, रंच मात्र भी साधना नहीं है, किसी प्रकार की कोई विशेषता नहीं है, परन्तु जरा देखूँ कि जिनके पास मैं जा रहा हूँ, उनके पास क्या कोई ऐसा गुण है, जिससे मेरा काम बन सके? मैं उनकी 'बानि', उनका स्वभाव देखना चाहता हूँ।"

वेदान्ती पता लगाते हैं – ब्रह्म का स्वरूप क्या है? कर्म-सिद्धान्ती पता लगाते हैं कि भगवान के नियम क्या हैं? और भक्त पता लगाते हैं कि भगवान के गुण क्या हैं? तीनों की ये तीन पद्धतियाँ हैं। पर शरणागत लोग कहते हैं – हम भगवान के नियम का पता लगाकर क्या करेंगे? उन्हें पालन करना हमारे बस की बात नहीं। भगवान के स्वरूप का पता लगाना भी इतना कठिन है कि उसमें मैं अपने को असमर्थ पाता हूँ। और गुण? यदि भगवान के गुणों को देखें और अपने अवगुणों की ओर दृष्टि जाय, तो साहस छूट जायगा।

अब शरणागति के लिये गोस्वामीजी ने बड़ा मधुर शब्द चुना। बोले – 'एकबानि' – हमारे प्रभु में एक बानि पड़ी हुई है। बानि माने आदत या स्वभाव। कुछ कार्य आप सोच-समझकर करते हैं और कुछ कार्य आप ऐसे करते हैं कि यदि आपसे पूछा जाय कि ऐसा क्यों करते हैं तो कहते हैं – क्या बतायें, हमारी तो आदत पड़ी हुई है। अपनी तो यह बानि है। तो बानि में विचार-विवेक नहीं है, वैसा करने का अभ्यास ही बन गया है।

ब्रह्मलीन श्री उड़ियाबाबा के चरणों में रहने का सौभाग्य मुझे मिला था। उनके आश्रम में नित्य हजारों लोगों को भोजन कराया जाता था। एक बड़े तार्किक सज्जन आये। बोले – "यह कार्य क्या आप विचारपूर्वक करते हैं? खानेवालों में कितने लोग ठीक होते हैं? कितने खाकर भजन करते हैं, कितने लोग न जाने क्या-क्या करते हैं; जो आता है, आप सबको खिला डालते हैं। क्यों खिलाते हैं?" बाबा उत्तर दे सकते थे कि भई, खिलाना बड़ा पुण्य है, बड़ा धर्म है, भूखे को भोजन कराना बड़ा धर्म है। परन्तु बाबा ने बड़ा विनोदपूर्ण उत्तर दिया। वे तार्किक सज्जन बीड़ी पीते थे। वे बीड़ी पीकर आए थे, उसकी थोड़ी गन्ध उठ रही थी। बाबा ने हँसकर पूछा – तुम बीड़ी क्यों पीते हो? बोले – महाराज, क्या कहें, आदत पड़ गई है। बाबा बोले – "बस, मेरी भी आदत पड़ गई है। (और कोई तर्क नहीं) हमें अच्छा लगता है, इसलिये करते हैं।" और कोई उत्तर नहीं दिया।

शरणागत लोग भी कहते हैं कि उन तीनों में तो अपना बस है नहीं, परन्तु हम जानना चाहते हैं कि भगवान में भी कोई बानि या स्वभाव है क्या? ऐसा कोई कार्य वे बुद्धि से न करते हो, बस स्वभाव से होता हो। भक्तों ने इस बानि शब्द को बड़ा महत्त्व दिया। उन्हें पता लगा – हाँ, एक बानि तो है। – क्या? बोले – जिसको कोई भी आश्रय नहीं है, उसे पाने के लिये भगवान स्वयं व्यग्र हो जाते हैं। उससे प्रेम करते हैं। जिसको किसी दूसरे का आश्रय है, वह उससे सन्तुष्ट है, लेकिन जिसकी कोई गति नहीं है, उसको देखकर प्रभु उस पर कृपा किए बिना रह ही नहीं सकते –

एक बानि करुनानिधान की ।
सो प्रिय जाकें गति न आन की ।। ३/१०/८

सुतीक्ष्णजी ने कहा – मुझमें तो कुछ नहीं है – न योग है, न सांख्य है, न वेद है, न ज्ञान है, न भक्ति है – कुछ नहीं है। उनको रिझाने योग्य कोई भी गुण मुझमें नहीं है, परन्तु उनमें एक बानि, एक आदत पड़ी हुई है। गोस्वामीजी ने बड़े मधुर शब्दों में इस बानि को लेकर कुछ बातें कही हैं।

जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में तीन वर्ष मुझे वृन्दावन में रहने का सौभाग्य मिला है। अनोखी बात थी, श्रीरामकथा से जुड़े हुए व्यक्ति ने पहले अयोध्या नहीं, वृन्दावन देखा। और केवल देखा ही नहीं, वहीं रहे भी। स्वाभाविक रूप से वहाँ के कृष्णभक्त मुझसे व्यंग्य-विनोद करते थे। प्रेम से कहते – कहाँ आ गये आप, यह तो श्रीकृष्ण की भूमि है! उनमें से एक सज्जन ने एक दिन मुझसे कहा – गोस्वामीजी भी श्रीकृष्ण को इसीलिए याद करते हैं कि जो बात उन्हें श्रीराम में नहीं मिलती, उसके लिए उन्हें कृष्णलीला का ही सहारा लेना पड़ता था। उन्होंने 'विनय-पत्रिका' (२१४) का एक पद सुनाया। वह पद बड़ा मीठा है। उसमें गोस्वामीजी भगवान की उदारता का वर्णन करते हुए कहते हैं –

ऐसी कौन प्रभु की रीति?
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ।।१।।

घटनाएँ सुनाने लगे – पूतना स्तन में विष लगाकर गई, वह बालक कृष्ण को मारना चाहती थी, पर प्रभु इतने कृपालु हैं कि उसे गति ही नहीं, अपितु माता जैसी गति दी –

गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादवराई ।।२।।

फिर दूसरा दृष्टान्त दिया – जिन गोपियों में काम की वृत्ति थी, उन पर इनती बड़ी कृपा कर दी, वे इतनी धन्य हो गयीं कि ब्रह्माजी उनके चरणों की धूल अपने सिर पर चढ़ाते थे।

काम मोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह ।
जगत-पिता बिरंचि जिन्ह के चरन की रज लीन्ह।।३।।

उसके बाद शिशुपाल का स्मरण किया। वह नित्य प्रभु को गालियाँ दिया करता था, परन्तु उन्होंने भरी सभा में उसे अपने आप में लीन कर लिया।

नेम तें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि ।
कियो लीन सु आप में हरि राज-सभा मँझारि ।।४।।

इसके बाद गोस्वामीजी ने चौथा और अन्तिम दृष्टान्त दिया। भगवान की अन्तिम लीला में व्याध ने उन्हें मृग समझकर उनके चरणों में बाण मार दिया –

ब्याध चित दै चरन मार्यो मूढ़मति मृग जानि ।
सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ।।५।।

उन्होंने कहा – इनमें से एक भी चित्र श्रीराम के चरित्र में नहीं है, तभी तो उन्हें श्रीकृष्ण के चरित्र में लेना पड़ा।

विनोद लगता है और सत्य भी है। मैंने उन्हें स्मरण कराया – विनय-पत्रिका में गोस्वामीजी ने एक साथ दो पद लिखे हैं। पहले पद में तो श्रीकृष्ण की बाललीला है, जब भगवान नन्हे-से बालक हैं। उसके बाद जब थोड़े बड़े हुए तो किशोरावस्था में गोपियों का प्रसंग। फिर शिशुपाल का प्रसंग और अन्तिम लीला देहत्याग का प्रसंग है। उसमें उन्होंने यह दिखाया कि उन चारों में उनकी उदारता एक जैसी है। कई लोग ऐसे होते हैं कि कभी उदार दिखाई देते हैं और कभी नहीं। परन्तु पद के अन्त में उन्होंने एक अन्तिम शब्द जोड़ा और उसके बाद एक पद लिखा। बड़ा मीठा शब्द है? बोले – भगवान ने जो यह कार्य किया, किस विवेक से किया? पूतना को गति देने में कौन-सा विवेक है? गोपियों के प्रेम को इतना महत्त्व देने में कौन-सी विशेषता थी? शिशुपाल को मुक्ति क्यों मिलनी चाहिए? और जिस व्याध ने वाण मारा, उसे तो नरक मिलना चाहिये। तो गोस्वामीजी ने कह दिया – इसमें उन्होंने अपनी 'बानि' को प्रगट किया।

सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ।।५।।

और इसके बाद गोस्वामीजी ने अगले पद में लिखा – हमारे श्रीराम की बानि ऐसी है कि अगला अवतार लिया, तो उसमें भी पिछले अवतार की उनकी वह बानि छूटी नहीं –

श्री रघुबीर की यह बानि ।।

उन्होंने यह बताने की चेष्टा की कि द्वापर के अवतार की यह जो बानि पड़ी हुई है, वह इस अवतार की नहीं है। वह तो पूर्व में जब त्रेतायुग में जब उन्होंने अवतार लिया, तब की है। तो बानि वह है, जिसे चाहकर भी, किसी भी अवस्था में, किसी भी परिस्थिति में न छोड़ा जा सके। ये जो शरणागत लोग हैं, वे तो बस भगवान के इसी 'बानि' का – स्वभाव का पता लगाते हैं कि भगवान की ऐसी कोई बानि है। जब उन्हें पता चला कि उनकी ऐसी कोई बानि है, तो उन्हें बड़ा आनन्द आ गया।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रद्धा : जीवन का मूल सूत्र

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

जो ऋद्धि-सिद्धि का संसाधन,
भर देती मन में पुण्य प्रेम,
जिसका आराधन बनता है,
मानव का शाश्वत कुशल-क्षेम ।।

जो भी जीवन बन गया सहज,
श्रद्धा का संतत सुभग धाम,
उसको क्यों प्राप्त नहीं होगा,
'दैवी-संपद' का सुख ललाम ।।

हतभाग्य, हन्त, वह मानव, जो
होता जग में श्रद्धा-विहीन,
सर्वदा कुसंशय-चक्रव्यूह,
कर देता उसको पाप-पीन ।।

श्रद्धा-सम्बल-संप्राप्त जीव,
अति धन्य मन्य ध्रुव पुण्य श्लोक,
भव-जन्य भ्रमादिक दूर, चूर
हो जाते उसके शोक-ओक ।।

श्रुति-ज्ञान-योग-विज्ञान-ध्यान
सबका श्रद्धा ही मूल-स्त्रोत,
'तत्-त्वं' का जो सम्बन्ध सूत्र,
करती चेतनता ओत-प्रोत ।।

श्रद्धा जीवन का सिद्धिद्वार,
श्रद्धा दर्शन का महायोग,
प्रति कर्म-धर्म में दीप्तिमान,
दिखता श्रद्धा का संप्रयोग ।।

पाकर श्रद्धा का स्पर्श सुखद,
कृतकृत्य, मर्त्य भी है अमर्त्य,
श्रद्धा मंगल का मूल मन्त्र,
श्रद्धा जीवन का सूक्ष्म सत्य ।।

किंचित् कथमपि संसाध्य नहीं,
जिसमें श्रद्धा का नहीं श्लेष,
श्रद्धा विगलित जन भूमिभार,
जीवन तो उसका मात्र क्लेश ।।

श्रद्धा जगती की परमशक्ति,
श्रद्धा साधन का मूल तत्त्व,
श्रद्धा ईश्वर की प्रथम भक्ति,
श्रद्धा जीवन का चरम सत्व ।।

भरती जीवन में दिव्य भाव,
करती अन्तर को सुरभिवन्त,
हरती कदर्य-कुण्ठादि दोष,
श्रद्धा चेतन का चिर बसन्त ।।

जेताननाथ चाँपराज वाला

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी की दो पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' और अनेक संस्मरणों का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। उन्होंने काठियावाड़ की कुछ कथाओं का भी पुनर्लेखन किया था, जिनमें से कुछ बँगला मासिक उद्‌बोधन में प्रकाशित हुए थे। उन्हीं रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

भादर नदी के तट पर जेतपुर नगर बसा हुआ है। वह काठीकुल के लिये बड़े गौरव का स्थान है। 'जेतपुर दरबार' का उल्लेख करते समय अब भी वे लोग सीना फुलाकर मूछों पर ताव दिया करते हैं। काठीकुल का करीब आधा इतिहास जेतपुर के राजाओं से ही जुड़ा है। 'जेताननाथ चाँपराज वाला' को इस कुल के श्रेष्ठ पुरुषों में सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है। उधर के चारण लोग चाँपराज के अन्तिम काल की बड़ी सुन्दर तथा वीररस से पूर्ण गाथा सुनाया करते हैं और उनके मृत्यु की दैवी घटनावली का मर्मस्पर्शी भाषा में वर्णन किया करते हैं। संक्षेप में वह इस प्रकार है –

महाराजा चाँपराज वाला संध्या के ठीक पूर्व अपने तलवार को बगल में दबाये सांध्य-क्रिया सम्पन्न करने भादर नदी के किनारे चले जा रहे थे। वर्षा का मौसम था। रुक-रुककर हल्की-सी वर्षा हो रही थी। भादर नदी में मटमैला जल बह रहा था, मानो रक्त की धारा बह रही हो। न जाने क्यों, उस दिन प्रकृति ने शोकमूर्ति धारण कर रखा था। वह दृश्य देखकर चाँपराज के मन में वैसा ही एक भाव उठ रहा था। काठियावाड़ अंचल में उन दिनों डाकुओं तथा बटमारों का बाहुल्य था। इसलिये सबको सदा सावधान रहना पड़ता था। चाँपराज भी चारों तरफ संदिग्ध दृष्टि से नजर डालते हुए नदी के किनारे-किनारे चले जा रहे थे। तभी अचानक उन्हें किसी नारी का कातर क्रन्दन सुनाई दिया और उसके साथ ही अट्टहास की प्रतिध्वनि भी आ रही थी।

उन्होंने सोचा – "लगता है कि कोई दुष्ट किसी पर अत्याचार कर रहा है।"

रोने की आवाज जिस ओर से आ रही थी, वे खुली तलवार लिये उसी ओर दौड़ पड़े। नदी के तट की भीगी बालू के ऊपर दौड़ना कठिन है, परन्तु वह भी चाँपराज को रोक नहीं पा रही थी। अपने क्षत्रिय-धर्म के पालन में तत्पर चाँपराज के मन में उस समय अपने स्वयं के जीवन की चिन्ता न थी। किसी असहाय नारी पर कोई दुष्ट अत्याचार कर रहा है – यही आशंका उनके कर्तव्य-बोध को जगाकर मानो उसी ओर खींचे लिये जा रही थी। सामने एक ऊँचा टीला था। रोने की आवाज उसी टीले के पीछे से आ रही थी और उसी के साथ बीच-बीच में एक क्रूर अट्टहास भी सुनाई दे रहा था। चाँपराज द्रुत वेग से उस टीले पर चढ़ गये और वहाँ से उन्होंने एक अद्‌भुत दृश्य देखा। सामने आग जल रही थी। उसी के पास दो अति सुन्दर युवतियाँ खड़ी थीं। उनमें से एक बीच-बीच में व्यंग्य-हास्य कर रही थी और दूसरी बैठकर रो रही थी। चाँपराज थोड़ी देर तो हतबुद्धि होकर खड़े रहे। और उसके बाद सब कुछ देखते हुए भी कुछ भी न समझ पाने के कारण – मामला क्या है – यह जानने के लिये उनके निकट जा पहुँचे।

– "कौन हो तुम लोग? इस संध्या के समय यहाँ क्या कर रही हो?"

– "कौन चाँपराज वाला? हम लोग तुम्हारे ही विषय में चर्चा कर रही थीं।"

– (आश्चर्यचकित होकर) "मेरे बारे में बातें कर रही थी? मैं तो तुम लोगों को पहचानता तक नहीं। क्या कह रही हो? और रो क्यों रही हो? क्या मैं जान सकता हूँ?"

जो युवती खड़ी थी, वह थोड़ा मधुर हास्य करती हुई और दूसरी युवती की ओर थोड़ा कटाक्षपूर्ण दृष्टि डालती हुई बोली, "यह इसलिये रो रही है कि इसका विवाह कल एक ढोलिये के साथ होगा और मैं इसलिये हँस रही हूँ कि मेरा विवाह तुम्हारे साथ होगा!"

चाँपराज – "देखो, मैं हँसी-मजाक पसन्द नहीं करता। तुम स्त्रियों को तो अपनी मर्यादा का ध्यान रखते हुए ही बोलना चाहिये। (दृढ़ता के साथ) सच-सच बोलो, तुम लोग कौन हो? और यहाँ क्या कर रही हो?"

पहली युवती – "हम अप्सराएँ हैं और जो कह रही हैं, सच कह रही हैं। चाँपराज राणा! कल इसी स्थान पर युद्ध में तुम्हारी और राज-ढोलिये की मृत्यु होगी। ढोलिये के साथ मेरी यह बड़ी बहन विवाह करेगी और तुम्हारे साथ मैं।

चाँपराज – "मेरा तो कोई भी शत्रु नहीं है। कल मेरी किसके साथ लड़ाई होगी? सच बोलो, बात क्या है?"

प्रथम युवती – "कल बादशाही सेना जेतपुर पर आक्रमण करेगी। जेताननाथ! इस युद्ध में तुम्हारी कीर्ति अमर हो जायेगी। परन्तु तुम्हारा रणवाद्य बजानेवाला ढोलियाँ सबसे पहले मरेगा, उसके बाद तुम। मेरी दीदी इस ढोलिये का वरण करेगी और मैं तुम्हारा वरण करूँगी। इसीलिये मैं हँस रही हूँ और दीदी रो रही है।"

चाँपराज किसी भी प्रकार विश्वास नहीं कर पा रहे थे। ये लोग कौन हैं और यहाँ क्यों उपस्थित हैं? क्यों एक रो रही है और दूसरी हँस रही है? उन्हें बिल्कुल भी समझ में नहीं आ रहा था। यह सब क्या माया है? परन्तु सांत्वना देने के उद्देश्य से उस दूसरी युवती से बोले, "तुम रोओ मत। यदि लड़ाई हुई, तो मैं ही पहले मरूँगा। अब सच-सच बोलो, तुम लोग कौन हो?"

पहली युवती – "हम लोग देवलोक की अप्सराएँ हैं। हमने जो कुछ कहा, वह सब सत्य है। तुम्हारा संकल्प वृथा है। जेतान नाथ ! तैयार रहना, कल आ रहा है।"

इतना कहकर वे दोनों अदृश्य हो गयीं।

– २ –

चाँपराज राणा कुछ भी समझ नहीं पा रहे थे। उन्होंने जो भी देखा और जो भी सुना – वह सब उन्हें किसी माया-राज्य की घटना प्रतीत हो रही थी। प्रत्यक्ष देखने के बावजूद उन्हें उसकी सत्यता में सन्देह होने लगा।

जो भी हो, वे लौट आये और आते ही उन्होंने सिपाहियों को युद्ध के लिये तैयार होने का आदेश दिया और ढोल-नगाड़े बजानेवालों को भी हाजिर रहने को कहा। उनका यह आदेश सुनकर सभी लोग आश्चर्य प्रकट करने लगे। उनके वृद्ध पिता ने पूछा कि बादशाही फौज के आने की सूचना उन्हें कैसे प्राप्त हुई ! तब उन्होंने अप्सराओं की सारी बातें आद्योपान्त कह सुनाई। राजा की आज्ञा समझकर स्वीकार कर लेने के बावजूद किसी को भी उन बातों पर विश्वास नहीं हुआ। रात के समय गढ़ के मुख्य द्वार को जंजीर से बन्द कर दिया गया और जुगीड़ा नामक ढोलिये को तोरणद्वार के ऊपर रहने का आदेश हुआ।

सूर्योदय होने में तब भी देरी थी। आकाश में लालिमा मात्र छायी हुई थी। जुगीड़ा ढोलिया ने देखा कि सामने दीवार के उस पार बादशाही सेना कतार-बाँधे खड़ी हैं। उसने तत्काल "ढमाढम ढमाढम" ढोल बजाते हुए शत्रु के आगमन की घोषणा कर दी। उसके ढोल की आवाज सुनते ही सारे योद्धा चौंक उठे, क्योंकि वह युद्ध के लिये आह्वान था। चाँपराज तथा अन्य सभी लोग पिछली रात की घटना की सत्यता पर विश्वास करके मरने और मारने के लिये तैयार हो गये।

भयंकर लड़ाई शुरू हुई। चाँपराज ने उस युद्ध में अद्‌भुत वीरता दिखाई, परन्तु उनकी मृत्यु के पूर्व ही वह ढोलिया अपना ढोल बजाते-बजाते उन्मत्त के समान रणोन्मत्त योद्धाओं के ऊपर कूद पड़ा और बादशाही सेना के एक सिपाही ने अपनी तलवार के वार से उसके दो टुकड़े कर दिये। उसके बाद चाँपराज भी वीरगति को प्राप्त हुए। कहते हैं कि चाँपराज का मस्तकविहीन धड़ भी भयंकर युद्ध करता रहा और उनका धड़ उसी अवस्था में जेतपुर से लाठी के पास तक पहुँच गया था, जो वहाँ से १२-१३ मील दूर स्थित है। वहाँ पर अब भी उनकी समाधि विद्यमान है और वह "वाला"* काठियों का तीर्थराज बन गया है।

– ३ –

चाँपराज राणा सत्यवादी वीर पुरुष थे। वे वचन देकर कभी उससे पीछे नहीं हटे थे। कहते हैं कि उनकी मृत्यु के बाद एक चारण उनके पिता के पास उपस्थित हुआ और बोला – चाँपराज राणा ने उसे एक घोड़ा देने को कहा था, वह उसे लेने आया है। वृद्ध पुत्रशोक में अधीर होकर बोले, "घोड़ा ले जाओ, परन्तु उसे चाँपराज के हाथ से तो नहीं पा सकते बेटा ! वह तो अब इस दुनिया में नहीं है !"

वृद्ध का यह शोकपूर्ण उद्‌गार सुनकर चारण बोला, "मैं किसी की मृत्यु के निमित्त दान नहीं लेता। यदि वे स्वयं दें, तभी मैं घोड़ा लूँगा।"

वृद्ध बोले – "तुम पागल हो। मरा हुआ आदमी क्या तुम्हारे लिये फिर से शरीर धारण करके आयेगा? उसने वचन दिया था, तो उसी का दिया हुआ मान लो, क्योंकि उसी का घोड़ा तुम्हें दिया जा रहा है।

परन्तु चारण किसी भी हालत में उसे लेने को तैयार नहीं हुआ। उसने चाँपराज की समाधि पर जाकर आमरण उपवास आरम्भ कर दिया। लगभग एक सप्ताह या उससे भी अधिक समय तक उपवास के बाद एक दिन चाँपराज ने उसे दर्शन देकर कहा कि वे अपने 'वचन' का पालन करेंगे – "जाओ, गाँव के बड़े-बूढ़ों को एकत्रित करके घोड़े को सजाकर तैयार रखो। कल मैं घोड़ा दान करने आऊँगा।"

चारण आनन्द से परिपूर्ण होकर जेतपुर में उपस्थित हुआ और सभी को इस बात की सूचना दी। सबने सोचा कि बहुत दिन उपवास करने के कारण चारण का दिमाग सटक गया है। जो भी हो, यह यदि उसी प्रकार से घोड़ा ले जाय, तो चाँपराज का 'वचन' पूरा हो जायगा – यह सोचकर उनके वृद्ध पिता ने गाँव के बड़े-बूढ़ों को बुलवाकर सभा की और एक अच्छा-सा घोड़ा सजवाकर सभा के पास ही बँधवा दिया। निर्धारित समय पर एक ज्योतिर्मय पुरुष सभा में प्रकट हुए और अपने हाथ से घोड़े को खोलकर चारण को दान कर दिया।

"वे तो चाँपराज राणा हैं" – इसके अतिरिक्त किसी के मुख से और कोई शब्द नहीं निकल सका। इस अद्‌भुत घटना ने सभी को अवाक् तथा अभिभूत कर दिया। ❑ ❑ ❑

* काठी जाति – वाला, खुमान तथा खाचर – इन तीन प्रमुख श्रेणियों में बँटी हुई है।

अधरलाल सेन

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

"महाराज, हमारे यहाँ बहुत दिनों से आप नहीं पधारे हैं। बैठकखाने में मानो संसारीपन की दुर्गन्ध आती है और बाकी तो सब अँधेरा ही अँधेरा है।" भक्त की यह बात सुनकर गुरुदेव के स्नेह का सागर उमड़ पड़ा। भावावेश में वे उठकर खड़े हो गये और शिष्य के मस्तक और हृदय पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। स्नेहपूर्वक कहा, "मैं तुम लोगों को नारायण देख रहा हूँ। तुम्हीं लोग मेरे अपने आदमी हो।"[१]

गुरुदेव और उनके एक शिष्य के बीच यह वार्तालाप उस समय हुआ, जब उन्हें पहली बार मिले मात्र एक वर्ष और पन्द्रह दिन हुए होंगे।

गुरुदेव थे दक्षिणेश्वर के परमहंस, जिन्होंने आध्यात्मिक साक्षात्कार एवं अनुभूति के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रयोग किये थे। उनके लिए ईश्वर तभी सत्य था, जब उसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जा सके। धर्म-शिक्षा उनके लिए उपदेश देना या शास्त्र-चर्चा मात्र न थी, उनके लिये धर्मदान का अर्थ था गहन विश्वास और बहुधा अतीन्द्रिय अनुभूति की प्राप्ति करा देना। उनकी असाधारण प्रतिभा और उनके आध्यात्मिक गुरु होने की महानता इसमें थी कि वे स्पर्श या किसी शब्द मात्र के माध्यम से अथवा दृष्टि से या फिर इच्छामात्र से ही शिष्यों के मन को पलटकर ईश्वर के आमने-सामने ला देते थे। और शिष्य थे अधरलाल सेन, जो कलकत्ता विश्वविद्यालय के होनहार छात्र रह चुके थे तथा पूरे संशयवादी थे। श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक शक्ति के स्पर्श से उनका एक महान् भक्त में रूपान्तरण होनेवाला था।

कलकत्ते के अहीरटोला मुहल्ले के २९, शंकर हालदार लेन में २ मार्च, १८५५ ई. को जन्मे अधर बचपन से ही अत्यन्त प्रतिभाशाली थे। उनके पिता रामगोपाल सेन कपड़े के एक प्रतिष्ठित व्यापारी और निष्ठावान वैष्णव थे। उनके सभी पुत्र – बलाईचन्द, दयालचन्द, श्यामलाल, रामलाल, अधरलाल तथा हीरालाल – जीवन में अच्छी तरह प्रतिष्ठित हो चुके थे और उन्हें गर्व था। सबसे बड़े भाई बलाईचन्द ने बँगला में पाँच पुस्तकें भी लिखी थीं और उन्होंने अपने सबसे मेधावी भाई अधर पर काफी प्रभाव डाला था। परिवार की परम्परा के अनुसार अधर जब बारह वर्ष के थे, तभी उनका विवाह रामचन्द सील की सातवर्षीया कन्या से हो गया था। एन्ट्रेंस की परीक्षा में उच्च स्थान प्राप्त करने के बाद उन्होंने प्रेसिडेन्सी कॉलेज में प्रवेश लिया तथा एफ.ए. की परीक्षा में मेरीट में चौथा स्थान प्राप्त करते हुए उत्तीर्ण हुए। अंग्रेजी साहित्य में विशेष योग्यता के लिये उन्हें डफ छात्रवृत्ति भी प्राप्त हुई। चार वर्ष बाद बी. ए. की परीक्षा में विशिष्टता के साथ उत्तीर्ण हुए।[२] पढ़ाई में तेज होने के साथ साथ अधर ने यह भी अनुभव किया वे अपने अनेक सहपाठियों की अपेक्षा कविता लिखने में कहीं अधिक कुशल हैं। १८७४ ई. तक उन्होंने अपनी बँगला कविताओं की कई पुस्तकें छपा दी थीं, जिनमें थी 'ललिता-सुन्दरी'[३] (भाग १) एवं 'मेनका'। इसके बाद 'कुसुमकानन' (१८७७ में भाग १ एवं १८७८ में भाग २) तथा लॉर्ड लिटॅन की अँगरेजी कविता 'The Wanderer'[४] का बँगला अनुवाद 'लिटोनियाना' १८८० में प्रकाशित किया। चौबीस वर्ष की उम्र में वे सरकारी नौकरी में प्रविष्ट होकर चटगाँव (अब बँगलादेश) में डिप्टी कलेक्टर नियुक्त हुए। उन्होंने चटगाँव में सीताकुण्डू नामक प्रसिद्ध तीर्थ की खोज का प्रशंसनीय कार्य किया और उसका विवरण अपने शोधपूर्ण ग्रन्थ The Shrines of Sitakundu (सीताकुण्डू के

१. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं. १९९९, भाग १, पृ. ४७५

२. उनकी इन शैक्षणिक उपलब्धियों की जानकारी बँगला मासिक 'बसुमती' के अग्रहायण १३५८ (बंगाब्द) अंक में प्रकाशित ब्रजेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय के 'अधरलाल सेन' लेख से ली गयी है।

३. 'बंगदर्शन' पत्रिका के श्रावण, १२८१ (बंगाब्द) अंक में बंकिमचन्द्र चटर्जी ने इस पुस्तक की समीक्षा करते हुए कहा था कि यद्यपि इसकी कविताओं में कोई नवीनता हो, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी इनके लेखक के उज्ज्वल भविष्य के पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं।

४. इनकी कृतियों की अनेक साहित्यिक समीक्षाओं में से एक 'कलकत्ता रिव्यू' में छपा था : "बाबू अधरलाल जिस शैली में लिखते हैं, उससे उनकी चिन्तन तथा सर्जना शक्ति स्पष्ट झलकती है। वे कलकत्ता विश्व-विद्यालय के एक विशिष्ट स्नातक हैं और उन्होंने अपनी प्रतिभा का अपनी मातृभाषा के साहित्य की सेवा में सुन्दर एवं समुचित उपयोग किया है। हम इस क्षेत्र में विश्वास के साथ उनकी उच्च सफलता की भविष्यवाणी करते हैं।" (नरेन्द्र लाहा की 'सुवर्णवणिक : कथा ओ कीर्ति', १९४१, भाग २, पृ. ३७७-८ से उद्धृत)। 'हिन्दू पैट्रियाट' ने लिखा था : 'रचना में कुछ अंश समचमुच बहुत रोचक, बहुत हृदयस्पर्शी तथा यथार्थ कवित्व से युक्त है।' (वही, पृ. ४४५)

तीर्थ-स्थल) नाम से १८८१ ई. में प्रकाशित कराया। सम्भवत: अगली जुलाई में उनका जैसोर स्थानान्तरण हुआ। फिर २६ अप्रैल १८८२ को जब उनका कलकत्ता स्थानान्तरण हुआ, तब तक बंकिमचन्द्र चटर्जी, प्रसन्न सर्वाधिकारी, महेशचन्द्र न्यायरत्न, कृष्णदास पाल तथा उनके सहपाठी हरप्रसाद शास्त्री जैसे महान् साहित्यकारों द्वारा उनकी विद्वत्ता को मान्यता मिल चुकी थी। उनकी विद्वत्ता और साहित्यिक प्रतिभा को सम्मानित करते हुए मार्च १८८४ ई. में उन्हें कलकत्ता विश्व-विद्यालय का 'फेलो' मनोनीत किया गया। उसके बाद उन्हें विश्वविद्यालय के कला-संकाय का सदस्य बना लिया गया।

अधरबाबू की इन साहित्यिक प्रतिभाओं के बावजूद, अंग्रेजी शिक्षा के कारण, उनमें निहित आध्यात्मिक सम्भावनाएँ अस्थायी रूप से ढक गयी थीं और पुन: जागने को प्रतीक्षारत थीं। उस काल के अन्य शिक्षित युवकों की भाँति वे भी मूर्ति-पूजा तथा प्रचलित आस्तिक धारणाओं के विरुद्ध अपने विचार प्रकट करते थे। उन्नीस वर्ष की आयु में उन्होंने अपने 'ललिता-सुन्दरी' ग्रन्थ में लिखा था – "मूर्ख हिन्दू मिट्टी की मूर्ति को प्रसन्न करने के लिए उनके सामने पशुओं की बलि देता है। नि:सन्देह ऐसा वह इस विश्वास से करता है कि तुष्ट देवता मृत्यु के बाद उसके पुण्यों का उपभोग करने के लिए उसे स्वर्ग में पहुँचा देंगे।"[५] इसमें संशय नहीं कि ब्राह्मसमाज के प्रभाव ने, हल्के से ही सही, उन्हें भी छू लिया था।

इन्ही दिनों कलकत्ते के शिक्षित नवयुवकों के बीच दक्षिणेश्वर के परमहंस का नाम प्रसिद्ध होता जा रहा था। ब्राह्म-समाज की सभी शाखाओं में उनके उपदेश तथा ब्राह्मसमाज की सभी शाखाओं के प्रमुख नेताओं तथा अन्य गणमान्य हिन्दुओं से उनकी भेंट के समाचार बीच-बीच में प्रकाशित होते रहते थे। इसके फलस्वरूप धार्मिक क्षेत्र में एक प्रमुख विभूति के रूप में उनका नाम प्रसिद्ध हो गया था। परमहंस का उस समय के प्रमुख व्यक्तियों पर जो प्रभाव पड़ रहा था, उसका चित्ताकर्षक वर्णन अधरबाबू के कानों में भी पहुँचा।

हम ठीक-ठीक नहीं जानते कि किन परिस्थितियों ने अधर बाबू को पहली बार श्रीरामकृष्ण के पास पहुँचाया था, तथापि अक्षयकुमार सेन ने एक मनोरंजक घटना लिखी है। अधर बाबू एक दिन महिमाचरण चक्रवर्ती से मिलने उनके काशीपुर-स्थित मकान में गये। महिमाचरण एक संस्कृत के पण्डित से तंत्र का कोई ग्रन्थ पढ़ रहे थे। थोड़ी देर बाद उसके किसी विशेष प्रसंग के स्पष्टीकरण को लेकर उन तीनों के बीच गरमागरम बहस होने लगी। तब यह तय हुआ कि इस बात पर किसी अधिकारी व्यक्ति का निर्णय लिया जाय। महिमाचरण ने श्रीरामकृष्ण का नाम सुझाया और सबने उसे स्वीकार कर लिया। तत्काल तीनों दक्षिणेश्वर पहुँचे।[६] अक्षयकुमार सेन के अनुसार अधरबाबू की श्रीरामकृष्ण से यही प्रथम भेंट थी।

अस्तु 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के रचयिता महेन्द्रनाथ गुप्त के अनुसार अधरबाबू की श्रीरामकृष्ण से प्रथम भेंट ९ मार्च १८८३[७] को दक्षिणेश्वर में हुई थी। वह अमावस्या का दिन था। ऐसी तिथियों पर श्रीरामकृष्ण ईश्वर के विभिन्न भावों में बारम्बार समाधिस्थ होते रहते थे। जब उनकी बाह्य चेतना लौटती, तो वे केवल भगवत्-तत्त्व पर बोलते या बातें करते और लोग स्तब्ध भाव से बैठकर सुनते रहते। चारों ओर का परिवेश मानो भगवद्-भाव से स्पन्दित हो उठता। श्रीरामकृष्ण के उस समय के आध्यात्मिक भाव के बारे में श्री 'म' ने लिखा है, "श्रीरामकृष्ण आजकल यशोदा की तरह सदा वात्सल्य-रस में मग्न रहते हैं, इसलिए उन्होंने राखाल[८] को साथ रखा है। राखाल के साथ श्रीरामकृष्ण का गोपाल-भाव है। जिस प्रकार छोटा शिशु माँ की गोदी के पास जाकर बैठता है, उसी प्रकार राखाल भी श्रीरामकृष्ण की गोदी के सहारे बैठते थे।'[९अ]

दोपहर के भोजनोपरान्त श्रीरामकृष्ण थोड़ा विश्राम कर रहे थे। उसी समय अधरबाबू आये थे और साथ ही अन्य दूसरे

५. उनके 'नलिनी' (१८७७) ग्रन्थ में भी नायक कहता है, "ईश्वर के निवास तथा उसके सच्चे स्वरूप को कौन और कब जान सका है?"

६. अक्षयकुमार सेन : श्रीश्रीरामकृष्ण पुंथी (बँगला ग्रन्थ, पंचम संस्करण), पृ. ३४७। रामचन्द्र दत्त : (श्रीश्रीरामकृष्णेर जीवनवृत्तान्त, बँगला ग्रन्थ, सप्तम संस्करण, पृ. १९१) ने भी प्राय: वैसा ही विवरण दिया है, परन्तु उनके अनुसार प्रश्न के समाधान हेतु श्रीरामकृष्ण के पास तीनों एक साथ नहीं, बल्कि अकेले अधर ही दक्षिणेश्वर गये थे; और शायद यह उनकी पहली यात्रा नहीं थी। अधर ने वह विवादास्पद प्रश्न उनके सामने नहीं रखा, तो यह देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि श्रीरामकृष्ण ने स्वयं ही उस प्रसंग को उठाया और समझाने लगे। तथापि ध्यान देने की बात यह है कि 'वचनामृत' में पहली भेंट के वर्णन में इस प्रसंग का कोई उल्लेख नहीं है।

७. उल्लेखनीय है कि श्री 'म' द्वारा रचित 'वचनामृत' का जो अंश बँगला पत्रिका 'तत्त्वमंजरी' (वर्ष ८, अंक ७, कार्तिक १३११ बंगाब्द) में छपा था, उसके अनुसार ८ अप्रैल १८८३ को अधर श्रीरामकृष्ण के पास पहली बार आये थे। स्पष्ट है कि इसे पुस्तकाकार करते समय श्री 'म' ने इसमें संशोधन किया है। तथापि नरेन्द्रनाथ लाहा ने "तत्त्वमंजरी" की बात को ही स्वीकार किया है। (वही, पृ. ३७२)। इसके साथ ही कुमुदबन्धु सेन ने वचनामृत की आन्तरिक घटनाओं की प्रामाणिकता का विश्लेषण करते हुए सुझाव दिया है कि अधर ने ९ मार्च, १८८३ के पूर्व ही श्रीरामकृष्ण के दर्शन कर चुके होंगे। उन्होंने कोई निश्चित तिथि नहीं बतलायी हैं। (उद्बोधन, चैत्र १३५६ बंगाब्द, पृ. १५९)। पर कोई अन्य प्रामाणिक तथ्य ज्ञात न होने से ९ मार्च १८८३ को ही प्रथम भेंट का दिन स्वीकार करना होगा।

८. बाद में स्वामी ब्रह्मानन्द (श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य)

९अ. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं. १९९९, भाग १, पृ. १५२-५३

भक्त भी, जिनमें 'म' एवं राखाल थे, उनके कमरे में एकत्र हुए थे। जैसा कि कहा जा चुका है, ऐसा अनुमान करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि श्रीरामकृष्ण ने सदैव के ही समान, अधरबाबू के श्रद्धालु व्यक्तित्व को तथा उसके पीछे निहित उनकी उस असामान्य आध्यात्मिक अभिरुचि को ताड़ लिया था, जो उन्हें खींचकर दक्षिणेश्वर ले आयी थी। अधर बाबू की पहली धारणा भी अनुकूल ही प्रतीत हुई। उन्होंने शीघ्र ही अपनी जिज्ञासा प्रकट की, "क्या देवता के सामने बलि चढ़ाना अच्छा है? इससे तो जीवहिंसा होती है।" उत्तर में श्रीरामकृष्ण बोले, "शास्त्र के अनुसार मन की एक विशेष अवस्था में बलि चढ़ायी जा सकती है।... मेरी अब ऐसी अवस्था है कि मैं सामने रहकर बलि नहीं देख सकता।... ऐसी भी अवस्था होती है कि सर्वभूतों में ईश्वर को देखता हूँ। चीटियों में भी वे ही हैं। ऐसी स्थिति में सहसा किसी प्राणी के मरने पर मन में यही सांत्वना होती है कि उस की देहमात्र का विनाश हुआ। आत्मा की मृत्यु नहीं है।"[९ब]

तदनन्तर अधरबाबू ने विस्मित भाव से श्रीरामकृष्ण के मुख से वे शब्द सुने, जो सीधे उनके अन्तर की अनकही चाह की ओर इंगित करते थे, "अधिक विचार करना ठीक नहीं, माँ के चरण-कमल में भक्ति रहने से ही हो जाएगा। अधिक विचार करने से सब गोलमाल हो जाता है। इस देश में तालाब का जल ऊपर ऊपर से पीयो, अच्छा साफ जल पाओगे, अधिक नीचे हाथ डालकर हिलाने से मैला हो जाता है। इसलिए उनसे भक्ति की प्रार्थना करो।"

इस प्रकार अधर को भक्ति की साधना के लिए प्रेरित करके, उन्होंने निष्काम भक्ति पर जोर दिया, "ध्रुव की भक्ति सकाम थी, उसने राज्य पाने के लिए तपस्या की थी; किन्तु प्रह्लाद की निष्काम अहैतुकी भक्ति थी।"

अन्त में अधर ने सुना, श्रीरामकृष्ण कह रहे थे "फिर साकार मनुष्य-रूप में भी वे प्रत्यक्ष हो सकते हैं। अवतार को देखना और ईश्वर को देखना एक ही है। ईश्वर ही युग-युग में मनुष्य के रूप में अवतीर्ण होते हैं।" इसके बाद की घटनाओं से अधर को लगने लगा था कि श्रीरामकृष्ण स्वयं भी इसी प्रकार के अवतारी पुरुष हैं।

श्रीरामकृष्ण का उस समय उन पर जो प्रभाव पड़ा था, वह उनकी कल्पना से कहीं अधिक गहरा था। उसने उनकी अन्तरात्मा को झकझोर दिया और निश्चित रूप से उन्हें बौद्धिक संशय की सीमा से बाहर ला दिया। अधरबाबू के मन में श्रीरामकृष्ण के प्रति ऐसा आकर्षण हो गया कि कुछ ही महीनों में उनके मुँह से ये शब्द निकल पड़े, "बहुत दिन हुए आप नहीं आए थे। मैंने आज आपको पुकारा था – यहाँ तक कि मेरी आँखों में आँसू भी आ गये थे।" बाद में उन्होंने प्रेम में गद्‌गद हो श्रीरामकृष्ण से कहा था, "जैसी बात आप कह रहे हैं, सृष्टि के आरम्भ से अब तक ज्यादा-से-ज्यादा छह-सात ही ऐसे हुए होंगे।"[१०] पर इसके बहुत पहले से ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण को गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया था। श्रीरामकृष्ण तो एक अद्‌भुत गुरु थे, उन्होंने अधरबाबू की अतृप्त आकांक्षाओं तथा अपनी पाश्चात्य शिक्षा एवं साहित्यिक अभिरुचियों के द्वारा प्राप्त उनके समाधान की अपूर्णता को स्पष्ट समझ लिया था। श्रीरामकृष्ण को ज्योंही अधरबाबू की सीमाओं का पता लगा, उन्होंने स्वयं अधरबाबू के मार्गदर्शन का बीड़ा उठा लिया, ताकि वे कम-से-कम समय में पूर्णता को प्राप्त कर सकें।

सम्भवत: महीने भर के भीतर ही हुई अपनी दूसरी भेंट के समय वे अपने एक मित्र को साथ ले आये, जो पुत्र-शोक से विह्वल थे। श्रीरामकृष्ण ने अपने प्रेरणास्पद शब्दों में उन्हें सांत्वना तो दी ही, साथ ही अधरबाबू की परिस्थिति के अनुकूल उस विचारधारा का व्यावहारिक प्रयोग भी बताया –

"तुम डिप्टी हो। यह पद भी ईश्वर के अनुग्रह से मिला है। उन्हें न भूलना; समझना, सबको एक ही रास्ते से जाना है, यहाँ सिर्फ दो दिन के लिए आना हुआ है। संसार कर्म-भूमि है। यहाँ कर्म के लिए आना हुआ है, जैसे देहात में घर है और कलकत्ते में काम करने के लिए आया जाता है। कुछ काम करना जरूरी है। यह साधन है।... पूरी जिद चाहिए; साधन तभी होता है। दृढ़ प्रतिज्ञा होनी चाहिए। उनके नाम-बीज में बड़ी शक्ति है। वह अविद्या का नाश करता है।... कामिनी-कांचन में रहने से, वे मन को खींच लेते हैं। सावधानी से रहना चाहिए।... मन सदा ईश्वर पर रखना। पहले कुछ मेहनत करनी पड़ेगी; फिर पेंशन पा जाओगे।"[११]

इस प्रकार दोनों के बीच जो आन्तरिक सम्बन्ध जुड़ा, उसका अद्‌भुत परिणाम हुआ। इसके बाद २ जून १८८३ को श्रीरामकृष्ण अधरबाबू के घर गये और तब से उनकी प्राय: ही मुलाकातें होने लगीं। ये अवसर धार्मिक उत्सव के समान हो जाते और आसपास के अनेक भक्तों के लिए आनन्द का स्रोत बनते। श्रीरामकृष्ण ने अपने एक दर्शन की बात कही थी, "भावावस्था में देखा – अधर का घर, सुरेन्द्र का घर, बलराम का घर – ये सब मेरे अड्डे हैं।"[१२]

श्रीरामकृष्ण जब १८ अगस्त १८८३ को अधरबाबू के घर पर पधारे, तो उन्होंने भावस्थ हो अधरबाबू से कहा था, "भैया, तुमने जो नाम लिया था, उसी का ध्यान करो।" ऐसा कहकर अधर की जीभ पर अपनी उँगली से छूकर कुछ

९ब. वही, भाग १, पृ. १५२-५३;

१०. वही, भाग १, पृ. ५९९; **११.** वही, भाग १, पृ. १८५;
१२. वही, भाग १, पृ. ५२९

(शेष अगले पृष्ठ पर)

स्वामी कल्याणदेवजी के प्रेरणा-सन्त : स्वामी विवेकानन्द जी

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

(प्रस्तुत लेख में स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं शतवार्षिकी के उपलक्ष्य में उनसे प्रेरणा प्राप्तकर सेवायज्ञ में अपने सुदीर्घ १२९ वर्ष के जीवन को होम कर देनेवाले स्वामी कल्याणदेव जी के त्याग और सेवामय जीवन पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। यह लेख स्वामी कल्याणदेव जी के शिष्य एवं उत्तराधिकारी स्वामी ओमानन्द जी से लेखक के वार्तालाप एवं उनसे प्राप्त सामग्रियों पर आधारित है। लेखक के साथ हुये वार्तालाप और प्रेस कॉन्फ्रेंस के संक्षिप्त संवाद को वहाँ के स्थानीय समाचार पत्र 'अमर उजाला' और 'दैनिक जागरण' ने प्रकाशित किया। उसके बाद लेख-आकार में इसे स्वामी कल्याणदेव जी द्वारा स्थापित संस्था 'शुकदेव आश्रम, स्वामी कल्याणदेव सेवा ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित 'शुकदेव-तीर्थ संदेश' नामक पत्रिका में अक्टूबर-२००७ में प्रकाशित किया गया। उसे ही कुछ नई सामग्रियों के साथ संशोधित और विस्तृत रूप में 'विवेक ज्योति' के पाठकों के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है।)

(गतांक से आगे)

इस संबंध में आँखों देखी एक बड़ी ही मार्मिक घटना का वर्णन श्री रामदास सोनकर जी, अवकाश प्राप्त आई. ए. एस. ने किया है। उसे हम अक्षरशः यहाँ उद्धृत कर रहे हैं – "श्री युत जी. डी. तपासे सन् १९७७ ई. से १९८० ई. तक उत्तर प्रदेश के राज्यपाल थे और मैं उनका सचिव था। मैंने तपासे साहब का परिचय स्वामीजी (स्वामी कल्याणदेव जी) से कराया। तपासे साहब तत्काल स्वामीजी के भक्त बन गये। तपासे साहब स्वयं एक साधु पुरुष थे। राज्यपाल महोदय के निमन्त्रण पर स्वामीजी प्रायः लखनऊ आया करते थे, किन्तु राजभवन में कभी नहीं ठहरते थे और न वहाँ भोजन-पानी लेते थे। तपासे साहब उनसे कहते-कहते थक गये कि वह एकबार तो राजभवन में ठहरें और एकबार ही उनकी भिक्षा स्वीकार कर लें, किन्तु स्वामीजी ने कभी राजभवन में न तो ठहरना स्वीकार किया और न ही वहाँ का खाना-पीना। हाँ, उनके साथ जो सन्त-मण्डली राजभवन आती थी, उसे वह वहाँ भोजन करने देते थे और देर रात तक राज्यपाल महोदय के पास रहते थे व कथा-प्रवचन आदि कार्यक्रमों में भाग लेते थे। तपासे साहब ने मुझसे भी कई बार कहा और उनकी ओर से मैंने भी स्वामी जी से बड़ा आग्रह किया, किन्तु सब बेकार। तपासे साहब दुखी होकर बड़ी करुणा के साथ कहते थे कि स्वामी कल्याणदेव को छोड़कर और किसी ने उनके यहाँ भोजन लेने से मना नहीं किया। स्वामी कल्याणदेव की भाँति महाराष्ट्र में स्वामी गाडगे जी महाराज हुए थे। तपासे साहब गाडगे महाराज के भक्त थे और वह भी सबके यहाँ भोजन नहीं करते थे, किन्तु तपासे साहब के यहाँ भोजन ले लेते थे।

तपासे साहब जब स्वामीजी से इस सम्बन्ध में अनुरोध

पिछले पृष्ठ का शेषांश

लिख दिया। श्री 'म' का विश्वास है और यह प्रायः निश्चित है कि इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने अधरबाबू को दीक्षा प्रदान की।

तथापि यह स्पष्ट था कि अधरबाबू के भीतर कुछ वासनाएँ बनी हुई थीं, उनमें "योग और भोग दोनों थे।"[१३] यद्यपि श्रीरामकृष्ण ने उनके समक्ष प्रह्लाद का निष्काम भक्ति का दृष्टान्त रखा था, पर साथ ही तामसिक भक्ति पर भी जोर दिया था, जिसमें भगवान से अपनी कामना-पूर्ति के लिए जोर देकर हठ भी किया जा सकता है। श्रीरामकृष्ण के उपदेशों पर पूर्णरूपेण आस्था रखकर अधरबाबू आगे बढ़ चले। उनकी भगवान की इच्छा तीव्र होने लगी; वे प्रायः रोज ही दक्षिणेश्वर जाने लगे।[१४] फिर भी श्रीरामकृष्ण उन्हें प्रायः याद दिला देते, "सब अनित्य है। शरीर अभी अभी है, अभी अभी नहीं। जल्दी-जल्दी उन्हें पुकार लेना चाहिए।"[१५]

यह सब होते हुए भी कोई भी अधरबाबू के मेधावी जीवन की अकाल समाप्ति के लिए तैयार न था। वे ६ जनवरी १८८५ को मानिकतला के निरीक्षण-दौरे से वापस आते हुए अपने घोड़े से गिर पड़े। श्रीरामकृष्ण ने बाद में देखा था कि घोड़े पर चढ़े हुए अधरबाबू को अपने इष्ट का अद्‌भुत दर्शन हुआ था। फलस्वरूप, वे भावविह्वल हो अपना सन्तुलन खोकर घोड़े से गिर पड़े थे।[१६] उनके बायें हाथ की कलाई की हड्डी कई जगह से टूट गयी और उसमें धनुर्वात पैदा हो गया। उससे उनकी १४ जनवरी को मृत्यु हो गयी। शोक-सभा की अध्यक्षता करते हुए एच. जे. एस. कॉटन ने ठीक ही कहा था, "जब हम उनका (अधरबाबू का) स्थान रिक्त देखते हैं और उनकी अकाल मृत्यु से जो आशाएँ निराशा में बदल गयी हैं तथा जो उज्ज्वल सम्भावनाएँ नष्ट हो गयी है, उन पर विचार करते हैं, तो एक हताशा और गहरे दुःख का भाव हमें जकड़ें बिना नहीं रहता।"[१७]

१३. वही, भाग २, पृ. ७१५

१४. वही, भाग १, पृ. ४७४; **१५.** वही, भाग १, पृ. ४७४

१६. श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका, स्वामी गम्भीरानन्द, द्वितीय सं., भाग २, पृ. २७२। बहुत पहले से ही श्रीरामकृष्ण ने उन्हें घोड़े की सवारी के बारे में सचेत कर दिया था, परन्तु होनी को कौन टाल सकता है!

१७. नरेन्द्रनाथ लाहा, पूर्वोक्त, पृ. ३७८

❖ **(क्रमशः)** ❖

करते-करते थक गये, तो उन्होंने भिक्षा स्वीकार न करने का स्वामीजी से कारण पूछा, जिसे स्वामीजी ने पहले टालना चाहा। किन्तु जब राज्यपाल महोदय ने जिद की तो स्वामीजी ने एक दृष्टान्त सुनाकर इसका उत्तर दिया – ''एक राजा एक साधु का बड़ा भक्त था। राजा साधु का बड़ा आदर करता था और उनकी सेवा भी करता था। साधु को सादा जीवन पसन्द था और वह किसान-मजदूरों के यहाँ से भिक्षा माँगकर भोजन करता था। राजा साधु से राजमहल में भोजन करने की बड़ी बिनती करता था, किन्तु उसने एक बार भी राजा के यहाँ भोजन नहीं किया। राजा बड़ा दुःखी हुआ और उसने साधु महाराज से इसका कारण बताने पर बल दिया। साधु ने जब देखा कि राजा बहुत ही हठ कर रहा है, तो उसने थाली में भोजन लाने की अनुमति दे दी। राजा, रानी और राजमहल के सभी लोग इस अनुमति से इतना प्रफुल्लित हुए जैसे उन्हें स्वर्ग मिल गया हो।

अनेक प्रकार के स्वादिष्ट और सुन्दर व्यंजनों के साथ थाली साधुजी के सम्मुख रखी गयी और स्वामी जी से भोजन ग्रहण करने का निवेदन किया गया। साधु ने ज्योंही रोटी को तोड़ा, खून की बूँदें उससे गिरने लगीं, जिसे देखकर राजा-रानी, सभी अवाक रह गये। दूसरी रोटी को तोड़ा, तो उससे भी खून गिरा। तीसरी रोटी तोड़ी, तो उससे भी रक्त। राजा को काटो तो खून नहीं। वह साधु के चरणों पर गिर गया और इसका कारण बताने का अनुरोध किया। साधु ने कहा, 'राजा स्वयं अपनी जीविका नहीं कमाता है, बल्कि जो परिश्रम करके पसीना बहाते हैं, उनसे कर वसूल करके ऐश्वर्य का भोग करता है। इस ऐश्वर्य-भोग के लिए राज्य के बहुत से लोगों को पसीने के अलावा अपना खून भी बहाना पड़ता है और वही लहू इन रोटियों से निकल रहा है।' इसीलिए मैं किसान व मजदूर के यहाँ से भिक्षा माँगकर खाता हूँ, क्योंकि वे अपना पसीना बहाकर जीविका कमाते हैं।'' इस दृष्टान्त को सुनकर राज्यपाल महोदय ने भी निस्तब्ध और बिल्कुल शान्त होकर सर नीचा कर लिया और उसके बाद फिर कभी स्वामीजी से भोजन-पानी ग्रहण करने का आग्रह नहीं किया।''

नेपाल में भारतीयों के दुख से द्रवित होना – पंडित जगदीश प्रसाद शर्मा ने अपने संस्मरण में एक बड़ी ही मार्मिक घटना का वर्णन किया है – ''एक बार स्वामी कल्याणदेव जी नेपाल स्थित पशुपतिनाथ जी के दर्शन करने गये। वहाँ उन्होंने मदालसा बहन के साथ भगवान शिवजी का पूजन किया। उस समय स्वामीजी की दृष्टि उस ओर गयी, जहाँ बहुत से भारतीय खुले मैदान में भयंकर शीत के कारण कँपकपा रहे थे। यात्रियों की अधिकता के कारण आवास की समुचित व्यवस्था का आभाव था। स्वामीजी ने अपनी यह चिन्ता श्रीमन्नारायण को बतायी। उन्होंने तत्काल भारतीय दूतावास की ओर से हजारों चटाइयाँ और इन्धन की व्यवस्था करा दी, जिसे तापकर ठण्ड दूर की जी सके।''

अभिमान शून्य – जब मैं (स्वामी प्रपत्त्यानन्द) मुजफ्फनगर में गाँधी पालीटेक्निक में स्वामी ओमानन्द जी महाराज और 'अमर उजाला' के प्रतिनिधि श्री ओमदत्त आर्य जी के साथ बैठा हुआ था, तभी श्री आर्य जी ने स्वामी कल्याणदेव जी महाराज की निरहंकारिता की बड़ी ही मनोरंजक घटना मुझे सुनायी थी, जिसे सुनकर हम सभी हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये। उन्होंने कहा – ''एक बार स्वामी कल्याणदेव जी महाराज किसी शहर में किसी सभा के लिये गये हुये थे। वे किसी धनी, मंत्री या राजभवन के बंगले में नहीं ठहरते थे। यद्यपि जाते उन्हीं की सभा के लिये। वे बाहर किसी धर्मशाला या अन्य किसी सामान्य स्थान पर रुक जाया करते थे। किसी के यहाँ खाते भी नहीं थे। भिक्षा माँगकर भोजन करना उनका नियम था। तो सबेरे ही कोई सभा थी, जिसमें उनको जाना था। उनके पास घड़ी नहीं थी या वे घड़ी नहीं रखते थे। वे समय पूछने के लिये किसी दुकान की ओर जा रहे थे। दुकानदार सवेरे-सवेरे ही दुकान खोलकर सफाई कर रहा था। स्वामीजी को देखकर उसने सोचा कि कोई भिखारी है। वह दूर से ही चिल्लाने लगा, अरे, मत आओ। अभी-अभी तो दिया हूँ। उसने कई बार जोर-जोर से नाराज होकर कहा कि अभी कुछ देर पहले ही एक भिखारी को दिया हूँ। अभी बहन-बाटा भी नहीं हुआ है। इधर मत आओ। लेकिन स्वामीजी थे कि उसकी बात न मानकर उसकी ओर चले ही जा रहे थे। वहाँ पहुँचने पर पहले दुकानदार ने उन्हें बहुत डाँटा और जाने को कहा। तब स्वामीजी ने हँसते हुये बड़े प्रेम से कहा – 'मैं तो समय पूछ रहा हूँ, मुझे एक सभा में जाना है। मैं तुमसे कुछ माँग नहीं रहा हूँ।' तब वह दुकानदार बड़ा लज्जित हुआ।'' घटना को सुनकर उनके साथ के लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते थे। उस दिन भी सबके साथ मैं भी अट्टाहास कर उठा।

राष्ट्र की सेवा हेतु संतों का आह्वान – डॉ. एन. आर गोयल ने अपने संस्मरण लिखा है – ''हरिद्वार में स्वामी जी ने 'गंगा माता नेत्र-चिकित्सालय' का उद्घाटन किया। अपने उद्घाटन समारोह के व्याख्यान में सैकड़ों संतों का आह्वान करते हुये स्वामीजी ने कहा – 'जब संन्यास ले लिया, तो क्या करोगे बड़े-बड़े आश्रम बनाकर? क्या करोगे करोड़ों का धन संचित करके? अपनी चेक-बुकों को गंगा मैया की गोद में फेंक दो और तमाम धन सर्वहारा वर्ग के कल्याण में लगा दो, ताकि गंगा माता सरीखे अस्पताल और विद्या-केन्द्र गाँव-गाँव में खुल सकें।''

यहाँ करोड़ों की संख्या में अपने-अपने शिष्यों के होने का दावा करनेवाले संत मौजूद हैं। फिर भी देश में मातृशक्ति

(नारी) का अपमान, गंगा मैया को बाधित और अपवित्र करने के षडयन्त्र, गाँवों की उपेक्षा तथा लाखों गोमाताओं की नित्यप्रति हत्या का सिलसिला जारी है। अगर सारा समाज एक हुंकार लगा दे, तो किसी भी सरकार के लिये उपरोक्त अभिशापों से अभिशप्त बनाये रखना असम्भव हो जायेगा। मुश्किल यही है कि मेरे देश के सन्त-गण भी माया-मोह में फँसे हैं और इन राष्ट्रहितकारी कार्यों को सोचने के लिये उनके पास समय ही नहीं है। अगर एक लाख सन्त संसद पर धरना दे दें, तो दूसरे ही दिन सरकार को कानून बदलने के लिये विवश होना पड़ेगा। जो भारतीय, माँ, गौ और गंगा का सम्मान नहीं करता, उसे भारतीय कहलाने का अधिकार नहीं रह जाता। क्योंकि गौ, गंगा, गाँव और माँ यही तो भारतीय संस्कृति का मूल आधार है।'' (तीन सदी पृष्ठ-२५४)

नवभारत टाइम्स के संवाददाता श्री सुभाषचन्द्र शर्मा से उन्होंने देश की दुर्दशा पर दुख व्यक्त करते हुये कहा था – ''देश की वर्तमान हालातों को देखकर मुझे नींद नहीं आती, जहाँ जाता हूँ दुख-ही-दुख दिखायी देता है।

''उस समय एक बात और थी कि राणा प्रताप, शिवाजी, झाँसी की रानी, स्वामी विवेकानन्द जैसे महापुरुष हमारे देश में थे। लेकिन आज उस स्तर का कोई महापुरुष हमारे देश में नहीं है। अब देश की चिन्ता किसी को नहीं है। 'अपनी जेब अपना पेट' यही दो काम रह गये हैं। हमारे देश में पचास लाख साधु-समाज और बारह लाख फौज है। सीमाओं की रक्षा करने के लिये हमारे जवान मुस्तैदी से खड़े हैं। जबकि साधु-समाज, जिन्हें संस्कृति और धर्म की रक्षा के अलावा दूसरा कोई काम नहीं है। देश की हालत क्या-से-क्या हो गई, इन्हें कोई चिन्ता नहीं है।''

साधु-सन्तों का काम माली का है

किसी भी बगीचे को आबाद या बर्बाद करने के लिये दो लोग जिम्मेदार होते हैं। एक होता है माली जो बगीचे की देख-भाल करता है, दूसरा होता है मालिक। मालिक बगीचे के लिये आवश्यक संसाधन जुटाता है। इस देश में साधु-संन्यासी का कार्य माली का है। जब कि सत्ता मैं बैठे लोग मालिक हैं। दोनों ही कुम्भकर्ण की नींद में सोये हैं, तो इन हालातों में देश गड्ढे में नहीं जायेगा, तो क्या होगा।'' (पृ-२२३) ऐसा महान व्यक्तित्व था स्वामी कल्याणदेव जी महाराज का !

स्वामी कल्याणदेवजी की स्वामी विवेकानन्दजी से भेंट : तथ्य, विश्लेषण और निष्कर्ष

स्वामी कल्याणदेव जी की स्वामी विवेकानन्दजी से भेंट के सम्बन्ध में कई पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भिन्न-भिन्न वर्ष और स्थान प्रकाशित करने से जब इसकी प्रामाणिकता के प्रति संशय उत्पन्न हो गया, तब इस भ्रम के निवारणार्थ स्वामी विदेहात्मानन्द जी, संपादक 'विवेक-ज्योति' ने सन् २००४ में २२ अप्रैल को परम पूज्य स्वामी कल्याणदेव जी महाराज को एक पत्र लिखा। अस्वस्थ होने के कारण स्वामीजी का कोई उत्तर नहीं मिला। अत: स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने पुन: स्वामी कल्याणदेवजी के एकमात्र सुयोग्य उत्तराधिकारी शिष्य स्वामी ओमानन्दजी महाराज को ५ जुलाई, २००४ को दूसरा पत्र लिखा। लेकिन अपने पूज्य गुरुदेव स्वामी कल्याणदेव जी की बीमारी में व्यस्त होने के कारण ओमानन्द जी महाराज की ओर से कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला। स्वामी कल्याणदेव जी की महासमाधि के कुछ दिन बाद स्वामी विदेहात्मानन्द जी के २२ अप्रैल और ५ जुलाई के पत्रों के उत्तर में स्वामी ओमानन्द जी महाराज ने २५ अगस्त, २००४ को बड़ा ही मार्मिक पत्र लिखा – ''... नम्र निवेदन यह है कि तीन सदी के युगद्रष्टा राष्ट्रसन्त परम पूज्य गुरुदेवजी १२९वर्षीय वीतराग स्वामी कल्याणदेव जी महाराज हम सबको अनाथ कर १४ जुलाई, २००४ को ब्रह्मलीन हो गये। उससे पहले वह कुछ समय से अस्वस्थ थे। उनके बिस्तर पर रखे कागजात की पोटली से आपके दो पत्र प्राप्त हुये, जिनका जवाब संकट की इस घड़ी में नहीं दिया जा सका। आशा है आप क्षमा करेंगे।

आपने अपने पत्रों में कुछ जानकारी प्राप्त करने का उल्लेख किया है। आप पुन: अवगत कराने का कष्ट करें कि क्या उन जानकारियों की आपको अब भी आवश्यकता है?

आपकी विवेक-ज्योति नामक पत्रिका भी देखने को मिली। यह आपका सराहनीय प्रयास है।

शुभ मंगल कामनाओं सहित

आपका
स्वामी ओमानन्द ब्रह्मचारी''

स्वामी ओमानन्द जी महाराज के इस पत्र के बाद कुछ आशा जगी और स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने पुन: उन्हें १६ सितम्बर, २००४ को एक पत्र लिखा। लेकिन कार्य-व्यस्ततावश कोई उत्तर नहीं मिला और जिज्ञासा का समाधान नहीं हुआ।

इसलिये इसके निराकरण हेतु, मैंने (स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने) स्वयं शुक्रताल जाकर स्वामी ओमानन्दजी महाराज से वार्तालाप और विश्लेषण कर इसके निराकरण की योजना बनायी। मैं अपने तीर्थ एवं शक्तिपीठ-दर्शन शृंखला में यात्रा करते-करते शुक्रताल भी गया। वहाँ २ और ३ जुलाई २००७ को १० बजे मुजफ्फरनगर में भोपा रोड स्थित गाँधी पॉलिटेक्नीक में स्वामी कल्याणेदव जी की पावन कुटिया के सामने बैठकर उनके उत्तराधिकारी शिष्य स्वामी ओमानन्द जी महाराज और 'अमर उजाला' के प्रतिनिधि श्री ओमदत्त आर्य जी के साथ जो चर्चा हुई, उसी को हम यहाँ यथा-सम्भव उद्धृत कर रहे हैं –

स्वामी प्रपत्त्यानन्द – महाराज जी ! पूज्य स्वामी कल्याणदेव जी महाराज स्वामी विवेकानन्द जी से कब मिले थे? क्योंकि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनके विभिन्न वर्ष और स्थानों का उल्लेख है। जैसे 'शुकतीर्थ सन्देश' में १९००, १९०२, में और 'गोधन पत्रिका' २००३, जनवरी में १८९८ में और 'अमर उजाला' समाचार-पत्र के १४-१०-२००३ के अंक में १८९२ ई. में उनकी भेंट बतायी गयी है। इनमें वास्तविक वर्ष-स्थान कौन-सा है?

स्वामी ओमानन्द जी महाराज – मैंने पहले ही 'स्वामी कल्याणदेव अभिनन्दन ग्रन्थ' में स्थान का उल्लेख किया है। स्वामीजी (कल्याणदेवजी) १० वर्ष की अवस्था में ही रामलीला में भरत-मिलाप नाटक से प्रेरित होकर गृह-त्याग कर परिभ्रमण करने लगे। उन्होंने १८९३ में कई तीर्थों का भ्रमण किया। वे घुमते-घुमते राजस्थान के खेतड़ी में पहुँचे। खेतड़ी में उन्होंने सुना कि राजा के यहाँ महोत्सव चल रहा है। तब वे वहाँ गये। वहीं खेतड़ी-नरेश के बगीचे में उनकी पहली बार भेंट स्वामी विवेकानन्द जी से हुई थी। इस घटना का उल्लेख स्वामीजी (स्वामी कल्याणदेवजी) बार-बार करते थे। खेतड़ी का नाम वे बार-बार लेते थे। खेतड़ी उनकी सेवामय जीवन की प्रेरणास्थली थी, इस दृष्टि से वे खेतड़ी जाते भी थे।

स्वामी प्रपत्त्यानन्द – स्वामी विवेकानन्द जी से जब स्वामी कल्याणदेव जी महाराज की पहली बार भेंट हुई, तो उनसे क्या बात-चीत हुई? उन्हें सेवा की प्रेरणा कैसे मिली?

स्वामी ओमानन्द जी महाराज – जब स्वामी कल्याणदेव जी स्वामी विवेकानन्द जी से पहली बार मिले, तब स्वामी विवेकानन्दजी ने उनसे पूछा – "तुम कैसे साधु हो?" स्वामी कल्याणदेवजी ने कहा – "मैं परिव्राजक साधु हूँ। मैं साधन-भजन करता हूँ और तीर्थों में भ्रमण करता रहता हूँ।" तब स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा – "नहीं! तुम ऐसा घुमन्तू साधु मत बनो। तुम जाकर गरीबों की सेवा करो।

"भगवान के दर्शन गरीब की झोपड़ी में होंगे। भगवान के दो बेटे हैं किसान और मजदूर। जब तुम प्रात: उठकर घर से निकलोगे, तो तुम्हारे कान में आवाजें आयेंगी, एक मन्दिर के घंटे की, दूसरी तड़पते, कराहते हुये दु:खियों की आवाज कि हाय राम ! मरा। यह आवाज सुनकर तुम पहले उन दीन-दुखी कराहते हुये लोगों के पास जाओ और अपनी सामर्थ्य के अनुसार उनका दु:ख दूर करो। मन्दिर में बाद में जाओ।" पूज्य स्वामी विवेकानन्द जी की इस वाणी का उनके ऊपर अमिट प्रभाव पड़ा और तब से वे गाँव-गाँव पैदल घुमते हुये दीन-दुखियों, मजदूरों, किसानों की सेवा में लगे रहे। इसलिये सन् १९९४ में उन्होंने अपनी सेवामय जीवन की शतवार्षिकी (१००वीं वर्षगाँठ) भी मनायी थी।"

स्वामी प्रपत्त्यानन्द – स्वामी विवेकानन्द जी ८ दिसम्बर, १८९७ को खेतड़ी से अपने गुरुभाई ब्रह्मानन्द जी को लिखते हैं कि – " देहरादून में उदासी साधु कल्याणदेव तथा और भी दो-एक जनों से भेंट हुई।" (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-६, पृष्ठ-३९२) इसके सम्बन्ध में आपका क्या विचार है?

स्वामी ओमानन्द जी महाराज – सन् १८९७ में स्वामी विवेकानन्द जी से स्वामी कल्याणदेव जी की दूसरी बार भेंट हुई थी। उस समय स्वामीजी को सेवा क्षेत्र में उतरे ४ साल हुये थे। हो सकता है कि कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण चर्चायें हुई हों, जो स्वामी विवेकानन्द जी को अच्छी लगी हो। इसलिये वे स्वामीजी (कल्याणदेवजी) को अपने पत्रों में याद कर रहे हैं। स्वामी कल्याणदेव जी ने इस घटना का उल्लेख दूसरी बार १८९८ का बताया है, जो अधिक उम्र होने के कारण भूल होने की सम्भावना है। स्वामी कल्याणदेव जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन दीन-दुखियों की सेवा और उनके विकास में लगाया। कभी भी उन्होंने अपने प्रचार-प्रसार और अनावश्यक औपचारिकता को प्रश्रय नहीं दिया। इसलिये उनके सम्बन्ध में विस्तृत विवरण नहीं मिलता। ३४ वर्ष लगातार उनके साथ रहने के कारण समय-समय पर उनके मुख से कुछ बातें कई बार सुनकर, कुछ उनसे पूछकर जो जानकारी मिली है, वही ज्ञात है।

निष्कर्ष – अत: पूज्य स्वामी कल्याणदेव जी पूज्य स्वामी विवेकानन्द जी से पहली बार सन् १८९३ में राजस्थान में खेतड़ी-नरेश के बगीचे में और दूसरी बार १८९७ में देहरादून में मिले थे।

स्वामी प्रपत्त्यानन्द – 'शुकतीर्थ सन्देश' के पृष्ठ-११ पर स्वामी कल्याणदेव जी के पिताजी का नाम 'फेरूत्त' लिखा है क्या यह सही है?

स्वामी ओमानन्द जी महाराज – नहीं, यह मुद्रण की भूल है। उनके पिताजी का नाम श्री 'फेरूदत्त' जी है।

स्वामी प्रपत्त्यानन्द – क्या स्वामी कल्याणदेव जी महाराज की जीवनी, फोटो, एलबम आदि प्रकाशित हुये हैं? ...

स्वामी ओमानन्द जी महाराज – हाँ, प्रकाशित हुये हैं ! 'तीन सदी के युगद्रष्टा स्वामी कल्याणदेव अभिनन्दन ग्रन्थ' में आपको सब कुछ मिल जायेगा। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक 'शुकतीर्थ संक्षिप्त परिचय' नामक पुस्तक, अँग्रेजी में 'Shuktal a brief sketch' नामक पुस्तक और हमारे यहाँ से प्रकाशित होने वाली 'शुकतीर्थ सन्देश' हिन्दी त्रैमासिक पत्रिका के पुराने अंकों में भी कुछ स्वामीजी से सम्बन्धित विषय-वस्तु आपको मिल जायेगी। मैं यह सभी चीजें आपको दूँगा।

(श्रद्धेय महाराज जी ने ये सारी चीजें हमें उपहार के रूप में प्रदान की और फोटो की सी.डी. तथा भविष्य में

प्रकाशित होने वाले चर्चा के अखबार की कतरन आदि बाद में भेजने को कहा।)

श्रद्धेय स्वामी ओमानन्द जी महाराज और श्री ओमदत्त आर्य जी ने ३ जुलाई २००७ को गाँधी पॉलीटेक्नीक, मुजफ्फरनगर की कुटिया में लगभग ११ बजे मेरे इस अनुसन्धान का उद्देश्य और रामकृष्ण मिशन के बारे में पूछा। मैंने उन्हें रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन तथा अन्य केन्द्रों के बारे में विस्तृत जानकारी दी।

स्वामी ओमानन्द जी – क्या आपके यहाँ के साहित्य में स्वामी कल्याणदेव जी का उल्लेख होगा? स्वामीजी के क्षेत्र में आकर आपको कैसा लगा?

स्वामी प्रपत्त्यानन्द – रामकृष्ण-संघ के साहित्य में स्वामी कल्याणदेव जी का उल्लेख तो स्वयं स्वामी विवेकानन्द जी ही कर गये हैं। अब उनके कृतित्व-व्यक्तित्व के विषय में विस्तृत जानकारी मिल रही है, तो भविष्य में लिखे जानेवाले साहित्य में विस्तृत विवरण के साथ उल्लेख होगा। स्वामी विदेहात्मानन्द जी महाराज ने हिन्दी मासिक पत्रिका 'विवेक-ज्योति' के जनवरी, २००५ के अंक में स्वामी कल्याणदेव जी का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित किया। पुन: उसका अँग्रेजी अनुवाद हमारे यहाँ की अन्तर्राष्ट्रीय विख्यात पत्रिका Prabuddha Bharata के मई, २००५ के अंक में में छपा। उसके बाद सिंगापुर से निकलने वाली Nirvan पत्रिका के अक्टूबर-दिसम्बर, २००५ के अंक में स्वामी कल्याणदेव जी की फोटो सहित जीवनी छपी। फिर गुजरात से निकलने वाली 'रामकृष्ण-जोत' मासिक पात्रिका के फरवरी, २००५ के अंक में स्वामी जी की जीवनी छपी। इस तरह स्वयं ही स्वामी कल्याणदेव जी महाराज हमारे साहित्य में आ रहे हैं और बाद में प्रामाणिकता सिद्ध होने पर पुस्तकों में भी आने लगेंगे। आपसे साक्षात्कार कर इस विषय को प्रामाणिक बनाना मेरा उद्देश्य था। क्योंकि आप ही स्वामी कल्याणदेव जी के साथ सुदीर्घ ३४ वर्षों तक साथ रहे हैं। दूसरा कोई भी व्यक्ति इसके लिये मुझे प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता था। अब आपसे मिलकर बहुत कुछ सामाधान हो गया।

इस क्षेत्र में आकर स्वामीजी के कार्यों को देखकर तथा आप लोगों से मिलकर मुझे बहुत अच्छा लगा। मेरी दृष्टि में वीतराग परम पूज्य स्वामी कल्याण देव जी महाराज एक ऐसे महान और प्रथम सन्त हैं, जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी से प्रेरणा प्राप्त कर रामकृष्ण मिशन के बाद सबसे पहले सेवा-कार्य प्रारम्भ किया। उन्होंने समाज को केवल दिया, लिया कुछ भी नहीं। वे भिक्षा की रोटी से सन्तुष्ट रहे। उन्होंने पुरानी टीन की कुटिया में निवास किया, लेकिन महलों में रहना स्वीकार नहीं किया। उनके जैसा ही, सादा जीवन और सहज प्रेमपूर्ण व्यवहार मैं उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी शिष्य – स्वामी ओमानन्द जी महाराज में भी पाता हूँ। यह एक अनूठा उदाहरण है।''

इस यात्रा में स्वामी ओमानन्द जी महाराज ने मेरे शुक्रताल रहने की भी अच्छी व्यवस्था की थी। वहाँ शुकदेवतीर्थ में भागवत कथा स्थल अक्षय वट-वृक्ष आदि का पुनरुद्धार और भव्य मन्दिर तथा भागवत-कथा पीठ का निर्माण पूज्य स्वामी कल्याणदेव जी महाराज ने कराया था। पास में ही उसी परिसर में विद्यमान है परम पूज्य स्वामी कल्याणदेव जी का समाधि स्थल, स्वामी कल्याणदेव जी का संग्रहालय, अन्यान्य शिव-हनुमान मन्दिर, संस्कृत विद्यालय आदि। साथ ही पावन गंगा तट पर विद्यमान है गंगा-मन्दिर और अनुपम 'कारगिल स्मारक'। भारत के इस अनुपम कारगिल स्मारक की विशेषता यह है कि यहाँ का टैंक, बन्दूक, पत्थर आदि चीजें कारगिल से ही लायी गयी हैं। पूरे लगभग ५२७ शहीदों के नाम लिखे गये हैं और भारत का मानचित्र बनाकर उनके स्थलों को दर्शाया गया है। शुक्रताल चौक पर स्वामी कल्याणदेव जी की बड़ी पूर्ण प्रस्तर प्रतिमा सुशोभित है, जिसमें स्वामीजी सभी आगन्तुकों पर अपना स्नेह-आशीर्वाद वर्षण कर रहे हैं।

इस प्रकार मधुर-स्मृतियों को लेकर ३ जुलाई २००७ को १.३० बजे मैं श्रद्धेय स्वामी ओमानन्दजी महाराज से विदा लेकर अपनी अग्रिम यात्रा वैष्णो देवी हेतु प्रस्थान किया।

यह तो केवल झाँकी है !

(यह लेख स्वामी कल्याणदेव जी के विशाल महान् जीवन का लघु रेखांकन मात्र है। इस विषय में विस्तृत ज्ञान के लिये जिज्ञासुओं को उनके उत्तराधिकारी शिष्य स्वामी ओमानन्द जी महाराज द्वारा प्रणीत और सम्पादित 'ऐतिहासिक शुकतीर्थ', ७१५ पृष्ठों में प्रकाशित 'तीन सदी के युगद्रष्टा स्वामी कल्याणदेव अभिनन्दन ग्रन्थ', अँग्रेजी में लिखित 'Shukteerth a Brief Sketch' और 'शुकतीर्थ सन्देश, जुलाई-२००४ में मुद्रित उनकी जीवनी को पढ़ना चाहिये। स्थानीय कॉलम में 'अमर उजाला' समाचार पत्र भी समय-समय पर स्वामी कल्याणदेव जी की जीवनी प्रकाशित करता रहा। स्वामी विदेहात्मानन्द जी, सम्पादक 'विवेक ज्योति' ने भी 'विवेक ज्योति' के जनवरी-२००५ और अँग्रेजी पत्रिका 'प्रबुद्ध भारत' के मई-२००५ के अंक में और गुजराती पत्रिका 'रामकृष्ण ज्योत' के फरवरी-२००५ के अंक में स्वामी कल्याणदेव जी के ऊपर लेख लिखे और सिंगापुर से प्रकाशित अँग्रेजी पत्रिका 'निर्वाण' ने भी अक्टूबर-दिसम्बर-२००५ के अंक में स्वामी कल्याणदेव जी के संक्षिप्त जीवन-परिचय को प्रकाशित किया, जिससे स्वामी कल्याणदेव जी के महान जीवन की झलकियाँ मिलती हैं।) ❑❑❑✔

रामकृष्ण-भावधारा : एक विहंगम दृष्टि (५)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(रामचरितमानस के प्रसिद्ध कथाकार श्री मोरारी बापू ने गुजरात के महुआ ग्राम में जनवरी, २००९ में 'अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सर्वधर्म-सम्मेलन' का आयोजन किया था, जिसमें श्री दलाईलामा से लेकर देश-विदेश के अनेकों धर्मावलम्बियों ने भाग लेकर अपने धार्मिक सद्भाव पूर्ण विचार प्रकट किये थे। श्री मोरारी बापू के हार्दिक आग्रह एवं बेलूड़ मठ के निर्देश पर रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के प्रतिनिधि के रूप में, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज, अपने व्यस्त कार्यक्रम के बावजूद इस सम्मेलन में पधारे तथा श्री बापूजी के निवेदन पर स्वामी विवेकानन्द द्वारा अनुमोदित सर्वधर्म-समन्वय का संदेशक 'रामकृष्ण-भावधारा' पर अपना महत्वपूर्ण सर्वजनहितकारी व्याख्यान दिया। हम उसी जनप्रिय व्याख्यान को 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु प्रकाशित कर रहे हैं। इसका सी.डी. से अनुलिखन रायपुर के श्रीदुर्गेश ताम्रकार और कामिनी ताम्रकार ने किया तथा संपादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। - सं)

जब स्वामीजी विदेश से लौटकर आये थे, तब उन्होंने दक्षिण भारत के रामेश्वर के मंदिर में व्याख्यान दिया था, जो 'भारतीय व्याख्यान' नामक पुस्तक में संकलित है। इसके अँग्रेजी संकलन का नाम है 'Lectures from Colombo to Almora'। उसमें स्वामीजी कहते हैं – Selfishness is the greatest sin. – स्वार्थ ही सबसे बड़ा पाप है। स्वार्थ का त्याग करो और निस्वार्थ बनो। उसके बाद स्वामीजी कहते हैं, पवित्र बनो। अगर तुम पवित्र भाव से जो तुम्हारे निकट है, उसकी सेवा करोगे, तो वही तुमको मुक्ति के राज्य में पहुँचा देगा। यदि उसको छोड़कर तुम अपने सारे शरीर को विभिन्न प्रकार के रंगों से चीते के समान रंग लो, तो भी उससे कुछ नहीं होने वाला है। जीवन में यदि आध्यात्मिकता को उपलब्ध करना चाहते हो, तो पूर्णत: निस्वार्थी बनो, पवित्र बनो और इस संसार की सेवा में अपना जीवन समर्पित कर दो। ऐसा करने पर इसी समय तुमको ईश्वर की अनुभूति हो जायेगी।

रामकृष्ण-भावधारा क्या कहती है? रामकृष्ण-भावधारा कहती है कि तुम सृष्टि को बदलने का प्रयत्न मत करो, अपनी दृष्टि को बदल लो। दृष्टि बदलने से सृष्टि तत्काल बदल जायेगी। भगवान श्रीरामकृष्णदेव को जब अद्वैत की अनुभूति हुई, तो उन्होंने कहा – अरे, मैंने देखा कि ये मंदिर, ये चौखट, ये दरवाजा, ये पूजा के पात्र, सब कुछ चैतन्य है। उन्होंने अपने लीला-संवरण के पूर्व १ जनवरी १८८६ को अपने भक्तों को आशीर्वाद दिया था। उस दिन को हमलोग 'कल्पतरु दिवस' के रूप में मनाते हैं।

जब श्रीरामकृष्ण काशीपुर में रहते थे। काशीपुर कलकत्ते में है। लगभग ८० साल पहले रामकृष्ण मिशन को वह मिल गया। अब वह रामकृष्ण मिशन का एक केन्द्र है। उसी काशीपुर उद्यान-भवन के दो मंजिल पर श्रीरामकृष्ण रहते थे। उस समय उनके गले में कैन्सर की बीमारी हो गयी थी। जब वे थोड़े स्वस्थ अनुभव कर रहे थे, तब वे अपने कमरे से नीचे आये। रविवार का दिन था। भक्त लोग आये हुये थे। भक्तों को देखकर श्रीरामकृष्ण बहुत आनंदित हुये। भक्तगण उन्हें प्रणाम करने लगे। उनमें एक भक्त थे गिरीशचन्द्र घोष।

श्रीरामकृष्णदेव ने गिरीश घोष से पूछा – अरे गिरीश, तुमने मुझमें ऐसा क्या देख लिया कि सब जगह मुझे ईश्वर के अवतार के रूप में प्रचार करता रहता है? गिरीश घोष ने घुटने टेककर हाथ जोड़कर कहा – प्रभु, महर्षि वाल्मीकि और व्यास जिनका वर्णन नहीं कर सके, उनके बारे में भला मैं क्या कह सकता हूँ कि आप कौन हैं !

श्रीरामकृष्णदेव यह सुनकर भावस्थ हो गये। उसके बाद श्रीरामकृष्णदेव ने कहा – मैं तुमलोगों को और क्या आशीष दूँ, तुम लोगों को चैतन्य हो। उसी दिन सभी भक्तों को उन्होंने स्पर्श करके विशेष-विशेष भावों की अनुभूति करायी।

मनुष्य के जीवन का एक ही उद्देश्य है कि हम चैतन्य की अनुभूति कर चैतन्य हो जायँ। हम जड़ता में डूबे हुए हैं, कण-कण में जड़ता है। यदि मेरी एक छोटी से कलम गिर जाय, तो मेरे को ऐसा लगेगा कि मेरी पसली की हड्डी निकल गई है। इतनी जड़ता से हम जकड़े हुए हैं। अत: चैतन्य का बोध करो, जो तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। इस चैतन्य का बोध करने के लिए ये सेवा रूपी महायज्ञ चलाओ। अपने जीवन को पवित्र रखकर, जितना हो सके अपने घर-परिवार और निकट-से-निकट व्यक्तियों की शिवज्ञान से सेवा करो। Let us live for others. – दूसरे के लिये जियो। इसी आदर्श से रामकृष्ण मिशन आज सारे देश में तथा विश्व में काम कर रहा है।

अपनी बात समाप्त करने के पहले अब थोड़ी-सी बात मैं रामकृष्ण मठ और मिशन के विषय में बताऊँ। हमारा 'रामकृष्ण मठ' और 'रामकृष्ण मिशन' दोनों ही रामकृष्ण-संघ कहलाता है। सामान्यत: हम चार आयामों में सेवा करते हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में, शिक्षा के क्षेत्र में, राहत कार्य (Relief Work) और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में। हमारे सभी केन्द्रों में प्राय: सभी तरह की सेवायें की जाती हैं। जहाँ कठिनाई है, दुख है, वहाँ हमलोग अपनी शक्ति के अनुसार आपके सहयोग से, जन-सहयोग से काम करते हैं।

यहाँ कुछ वर्ष पहले जब कच्छ में भूकंप हुआ था, तब रामकृष्ण मिशन ने सेवा की थी। हमने सोचा था कि हम २ या ३ करोड़ रुपयों से सेवा करेंगे, लेकिन आप लोगों ने हमको २० करोड़ रूपये दिये। भुज में २० करोड़ रूपये देकर सेवा की गई। बाद में रामकृष्ण मिशन को यह अपील निकालना पड़ा कि अब हमें रूपये नहीं चाहिये, हमारा रिलीफ का काम समाप्त हो गया है, आप हमें रुपये न भेजें। ऐसा विश्वास, ऐसी आस्था कैसे आयी? यह वास्तविक सेवा करने का परिणाम है।

देश भर में हमारे बहुत से विद्यालय हैं। जहाँ लाखों विद्यार्थी हमारे स्कूल-कालेजों में पढ़ते हैं। हमारे अनेकों चिकित्सालय हैं, औषधालय हैं, जहाँ पर हम रोगी-नारायण की सेवा करते हैं। जो लोग आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हैं, उनके मार्गदर्शन की भी व्यवस्था है।

हमारे यहाँ दो प्रकार के लोग सेवा करते हैं – संन्यासी-भक्त और हमारे गृहस्थ-भक्त। गृहस्थ-भक्त अपनी शक्ति के अनुसार हमारे कार्यों में सहयोग देते हैं। जो लोग अपना सम्पूर्ण जीवन 'रामकृष्ण संघ' को समर्पित करके समर्पणपूर्वक निष्काम सेवा करते हैं, वे रामकृष्ण-भावधारा के संन्यासी हैं।

रामकृष्ण-भावधारा आज के युग की आवश्यकता है। संसार का प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी जाति का हो, किसी भी धर्म का हो, स्त्री हो या पुरुष हो, कोई भी हो, यह भावधारा सबके लिये है। केवल एक ही शर्त है कि वह व्यक्ति अपना कल्याण चाहता हो। यदि वह अपने जीवन का कल्याण चाहता है, यदि आप अपने जीवन का कल्याण चाहते हैं, तो आप रामकृष्ण का नाम लें या न लें, आप अपने धर्म के अनुसार अपने ढंग के अनुसार चलें, उसी से आपके जीवन का मंगल और कल्याण होगा, रामकृष्ण-भावधारा इसमें विश्वास करती है और कल्याण के इच्छुक लोगों की सहायता करती है। ऐसा हो भी रहा है। इस भावधारा को समझने में थोड़ा समय लगता है और समय लगेगा भी। जब तक व्यक्ति जीवन में त्याग स्वीकार करने को तैयार नहीं होता, तब तक उसे न केवल रामकृष्ण-भावधारा, बल्कि किसी भी धर्म की भावधारा उसे समझ में नहीं आयेगी। संसार का कोई भी धर्म किसी भी व्यक्ति को भोग और योग साथ-साथ चलाने की अनुमति नहीं दे सकता है। आप धार्मिक अनुष्ठान करके धर्म में पारंगत हो सकते हैं, किन्तु आपके जीवन में आध्यात्मिकता नहीं आयेगी। जब तक जीवन में योग न हो, योग से तात्पर्य केवल नाक दबाना ही नहीं है, ईश्वर से जुड़ने से है, जीवन की पवित्रता से है। जब तक हम पूर्ण अंत:करण से पवित्र होने का प्रयत्न नहीं करते, तब तक हम किसी भी ईश्वर की उपासना करने में सक्षम नहीं हो सकते, तब तक हमारे जीवन में मानवता प्रकट नहीं होगी और हमारा जीवन व्यर्थ चला जायेगा।

मैं श्री मोरारी बापू के चरणों में प्रणाम करता हूँ और हृदय से आभार मानता हूँ कि उन्होंने मुझे ऐसा अवसर दिया। जबकि देश आज एक विषम परिस्थिति से गुजर रहा है, हम शत्रुओं से घिरे हैं। इस परिवेश में ऐसे धर्म-सभा तथा सद्भाव-सम्मेलन का आयोजन अत्यन्त हितकर है और आज देश की इसे आवश्यकता है।

आप यह निश्चित जानकर रखें कि केवल शस्त्र के बल से समस्या का समाधान नहीं हो सकता, नहीं हो सकता, नहीं हो सकता। भारतवर्ष धर्म का देश है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है – Religion is backbone of India. Religion is bedrock of India. भारत की रीढ़ धर्म है, आपकी रीढ़ धर्म है। इस धर्म को हम जीवन में स्वीकार करें। आप जिस भी धर्म को मानते हैं, उसमें पूरी निष्ठा रखें तथा दूसरों के साथ सहृदयता रखें। संसार के सभी धर्म ईश्वर तक पहुँचने के रास्ते हैं, इसलिये किसी से, कहीं भी विरोध-विवाद न करें और आपसी सद्भाव बनाये रखें।

आप सभी भाई-बहनों और बेटियों ने इतनी देर तक शान्तिपूर्वक मेरी बातें सुनीं, इसके लिए मैं आपका सदैव आभारी रहूँगा। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – **ईश्वरः सर्वभूतानाम् हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति** – हे अर्जुन ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में निवास करते हैं। आप सबके हृदय में भी ईश्वर विराजमान हैं। इसलिए आप सब भाई-बहनों और बेटियों के चरणों में श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके अपनी बात समाप्त करता हूँ। धन्यवाद ! ❑❑❑
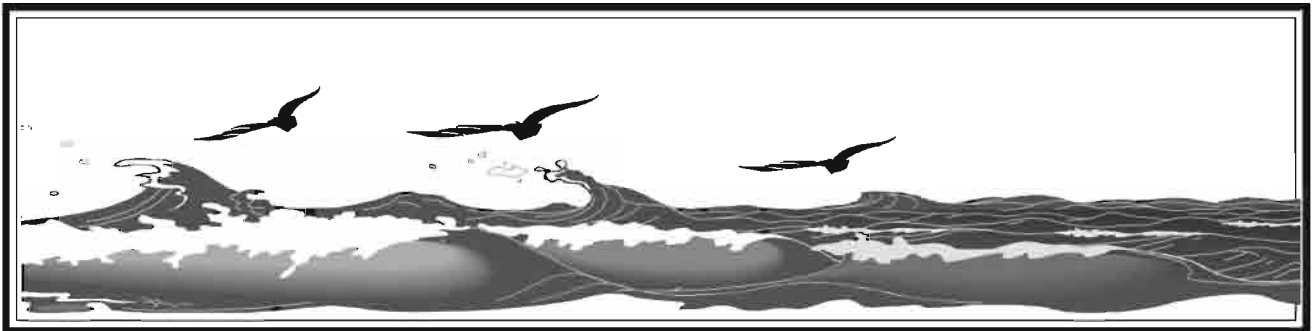
संस्कृत साहित्य और श्रीरामकृष्ण-भावधारा (३)

स्वामी विदेहात्मानन्द

स्वामी विवेकानन्द की जीवनियाँ

स्वामी विवेकानन्द की कम-से-कम सात जीवनियाँ संस्कृत में लिखी गयीं, जिनमें से कुछ का विवरण निम्नलिखित है –

(क) श्रीश्रीविवेकानन्द-चरितम् (चम्पू-काव्यम्) – यतीन्द्र-विमल चौधुरी, सं. १९६३, पृ. १७९, प्रकाशक – स्वामी-विवेकानन्द-शताब्दी-जयन्ती-समिति, कोलकाता। भूमिका में लेखक ने स्वामीजी के संस्कृत प्रेम तथा उनकी एक विश्वविद्यालय तथा वैदिक कॉलेज बनाने की इच्छा पर विस्तार से प्रकाश डाला है। तीन खण्डों के इस गद्य-पद्यात्मक चरित्र में कुल १७७ श्लोक भी निबद्ध हैं। साथ ही इसमें स्वामीजी की निम्नलिखित कविताओं के संस्कृत अनुवाद भी हैं – प्रबुद्ध भारत के प्रति (पृ. १३७), चौथी जुलाई (पृ. १३९), काली माता (पृ. १४२-४३) और उनके कुछ प्रिय गीतों के भी संस्कृत अनुवाद हैं।

(ख) युगाचार्य विवेकानन्दः – स्वामी अपूर्वानन्द के बँगला ग्रन्थ का संस्कृत अनुवाद काशी के श्री गोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री ने किया। १९६४ में स्वामी विवेकानन्द शतवार्षिकी समिति, कोलकाता से प्रकाशित। १९६६ में उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत। ४०० पृष्ठों के इस ग्रन्थ के प्रथम ३०९ पृष्ठों में स्वामीजी की धारावाहिक जीवनी है। उसके बाद ४२ पृष्ठों में (३१०-३४१ तक) स्वामीजी के २०० उक्तियों का संस्कृत श्लोकों में रूपान्तर है। ११० श्लोकों में (पृ. ३४२-३६०) स्वामीजी की जीवनी है। विभिन्न कवियों द्वारा रचित और अधिकांशत: उद्बोधन में प्रकाशित स्वामीजी पर १४ स्तोत्र हैं। अन्त में स्वामीजी कुछ संस्कृत रचनाएँ और उनकी संन्यासी का गीत तथा जीवन्मुक्त का गीत शीर्षक कविताओं के त्र्यंबक शर्मा भण्डारकर कृत संस्कृत अनुवाद है।

(ग) विवेकानन्द-चरितम्, पुणे विद्यापीठ के प्राध्यापक डॉ. गजानन बालकृष्ण पलसुले द्वारा सरल गद्य-पद्य में रचित तथा सारदा प्रकाशन (पूना) द्वारा प्रकाशित। इसमें स्वामीजी का चित्रण करते हुए लेखक बताता है कि वे मात्र संन्यासी तथा धर्म-प्रचारक ही नहीं, अपितु महान् देशभक्त भी हैं।[२७]

(घ) विवेकानन्दम् – लेखक व प्रकाशक – सूर्यनारायण शास्त्री, सिकन्दराबाद, १९६०, पृ. १४२ (नेशनल ला. कोलकाता)। ७०७ श्लोकों का यह ग्रन्थ राष्ट्रीय भावों को उद्वेलित करता है। कवि बताता है कि शिकागो की धर्ममहासभा में स्वामीजी को मिली सफलता तथा प्रसिद्धि का समाचार सुनकर भारतमाता की आँखों से आनन्दाश्रु आ जाते हैं।[२८]

अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है –

(ङ) स्वामी-विवेकानन्द-चरितम् (१८ सर्गों का महाकाव्य) – त्र्यम्बक-शर्मा भण्डारकर, प्रकाशक – चौखम्बा संस्कृत सिरीज, काशी, १९७३।[२९]

(च) विवेकानन्द चरित – श्री के. एस. नागराजन ने 'भारतीय देशभक्त चरितम्' नाम से एक जीवनी-माला लिखी, जिसमें से 'विवेकानन्द चरित' १९४७ ई. में बंगलोर से अलग से प्रकाशित हुई है।[३०]

(छ) विश्वभानु-काव्यम् – पी. के. नारायण पिल्लै, विषय – विवेकानन्द चरित्र। सर्ग २१। सं. १९८०।[३१] 'धर्मसागर:' शीर्षक से इन्होंने श्रीरामकृष्ण-विषयक काव्य भी लिखा है।

प्रमुख नाटक

श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द तथा भगिनी निवेदिता आदि को विषय बनाकर संस्कृत में अनेक एकांकियों तथा नाटकों की भी रचना हुई है। इनमें से प्रकाशित हुए नाटकों में से प्रमुख के विवरण निम्नलिखित हैं –

युगजीवन (रूपक) – डॉ. रमा चौधरी ने श्रीरामकृष्ण परमहंस के जीवन-चरित्र पर यह १० अंकों का नाटक लिखा, जो कलकत्ते के रामकृष्ण मठ में १९६७ ई. में पहली बार अभिनीत हुआ। १९७७ में इसे प्राच्यवाणी द्वारा प्रकाशित किया गया।[३२]

श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी श्री माँ सारदा देवी के जीवन पर भी कम-से-कम दो नाटक लिखे गये –

(क) यतीन्द्र विमल चौधरी द्वारा रचित **शक्ति-सारदम्** चार अंकों का रूपक है। १९५४ ई. में श्रीरामकृष्णदेव की पत्नी श्री सारदामणि देवी की जन्म-शताब्दी के अवसर पर रचित हुई। इसमें उनकी प्रेरणाप्रद जीवनगाथा का चित्रण हुआ है। भाषा – सरल नाट्योचित। संवाद – पात्रों के अनुसार। गीतों से परिपूर्ण। इसका प्रथम मंचन २० जून १९५८ को पुरी की अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् के अधिवेशन में हुआ। बाद में कई अन्य स्थानों पर भी मंचन हुआ। १९६० में इसका कलकत्ते से ग्रन्थ के रूप में प्रकाशन हुआ।[३३]

---

२७ व २८. जीवन विकास (मराठी मासिक), मई २००६, पृ. २४१

२९. श्रीरामकृष्ण-परिक्रमा, कालीजीवन देवशर्मा, भाग २, पृ. ३३

३०. आज का भारतीय साहित्य, वे. राघवन, पृ. ३००, ३४४

३१. संस्कृत वाङ्मय कोष, प्रथम खण्ड – ग्रन्थकार, पृ. २६३

३२. संस्कृत वाङ्मय कोष, द्वितीय खण्ड, १९८८, पृ. २८५; आधुनिक संस्कृत नाटक, भाग २, पृ. १०९३

३३. संस्कृत वाङ्मय कोष, द्वितीय खण्ड, १९८८, पृ. ३५८

(ख) मुक्ति-सारदम् – श्रीरामकृष्ण के देहान्त के बाद उनकी धर्मपत्नी सारदामणि देवी के जीवन-चरित्र की कथा पर १२ अंकों में यतीन्द्र विमल चौधरी द्वारा रचित रूपक।[३४]

संस्कृत में स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर लिखे गये अनेक नाटकों में सर्वप्रमुख का विवरण इस प्रकार है –

(क) विवेकानन्द-विजयम् (नाटक), डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर। १० अंकों में पूर्णांग महानाटक। विवेकानन्द-शिला-स्मारक समिति, त्रिप्लीकेन, मद्रास द्वारा श्री वी. राघवन की अंग्रेजी भूमिका के साथ १९७२ ई. में प्रकाशित।

इस नाटक की रचना की पृष्ठभूमि के विषय में लेखक ने बताया है, "छत्रपति शिवाजी के समान ही स्वामी विवेकानन्द भी मेरे श्रद्धास्पद हैं। मैं बाल्यकाल से ही मराठी भाषा में स्वामी विवेकानन्द के विविध ग्रन्थ पढ़ता रहा हूँ। अंग्रेजी भाषा में उनका मर्मस्पर्शी चरित भी मैंने पढ़ा। खण्ड-काव्य रचना के आवेग में (१९५१ में) श्रीरामकृष्ण-परमहंसीयम् नामक मन्दक्रान्ता छन्द में निबद्ध एक शतक काव्य भी मेरे द्वारा नागपुर-दिल्ली यात्रा के दौरान रेलयान में लिखी गयी। मुम्बई की एक विद्वत्-सभा में इस काव्य का गायन सुनकर अभिनय-कला में कुशल एक संस्कृत-मनीषी ने कहा, 'मैं विवेकानन्द का अभिनय करने को अभिलाषी हूँ। आप विवेकानन्द-विषयक संस्कृत नाटक लिखिये।' इससे मेरे मन में उस प्रकार का नाटक लिखने का संकल्प अंकुरित हुआ। फिर कन्याकुमारी में विवेकानन्द-शिला-स्मारक की समाप्ति के समय 'विवेकानन्द-विजयम्' नामक दशांक नाटक लिखने में मुझे सफलता मिली। यह महानाटक जयपुर, जबलपुर, हैदराबाद के विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक के रूप में पढ़ा और पढ़ाया जाता है। इस नाटक में 'श्रीपादशीला' अंक में विवेकानन्द द्वारा गाया गया भारतमाता का सुदीर्घ स्तोत्र मेरा स्थायी भाव व्यक्त करता है।"[३५]

इसका प्रथम मंचन – १५ जनवरी, १९७२ को नागपुर में सोमयाग महोत्सव के मण्डप में हुआ। नाटक का प्रारम्भ "जय शिवशंकर ! जय गंगाधर !" नांदी गान के साथ होता है। इसके कथावस्तु का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है – विपन्न-परित्राणम् – नामक प्रथम अंक में नरेन्द्र (विवेकानन्द का मूल नाम) द्वारा शेपालिका नामक विधवा युवती का विलियम, रहमान और वामाचरण नामक तीन दुष्ट छात्रों से संरक्षण। द्वितीय अंक में होलिकाचार्य नामक दुष्ट दाम्भिक के आश्रम में भ्रमवश प्रविष्ट अन्धे को नरेन्द्र द्वारा मार्गदर्शन। रामकृष्ण-कथा-श्रवणम् – तीसरे अंक में नरेन्द्र अपने पिता-माता के संवाद में रामकृष्ण परमहंस का चरित्र सुनता है। चौथे अंक का नाम – श्रीरामकृष्ण-दर्शन है। इसमें नरेन्द्र और सिद्धपुरुष रामकृष्ण परमहंस की प्रथम भेंट की घटना चित्रित है। तीर्थयात्रा – नामक पंचम अंक में संन्यासी नरेन्द्र की तीर्थयात्रा में घटित विविध घटनाओं का दर्शन है। राजसभा – नामक छठे अंक में मानसिंह नामक राजा की सभा में मूर्तिपूजा के विषय में चर्चा तथा विवेकानन्द द्वारा मूर्तिपूजा का औचित्य प्रतिपादन। श्रीपादशिला – नामक सातवें अंक में कन्याकुमारी क्षेत्र में श्रीपाद-शिला पर समाधि से उत्थित होने के बाद स्वामी विवेकानन्द भारतभूमि का गुणगान करते हैं। यह सुदीर्घ स्तोत्र शिखरिणी छन्द में ८५ श्लोकों में है। अमेरिका-प्रवेश – नामक आठवें और धर्मविषय नामक नौवें अंक में अमेरिका की घटनाओं का वर्णन है। दशवें प्रत्यागमनम् अंक में उपसंहार है। दि. ४ जुलाई १९७१ को नाटक का लेखन समाप्त हुआ। इस नाटक में प्राकृत भाषा का प्रयोग नहीं है।[३६]

(ख) विवेकानन्द-चरित – जीव न्यायतीर्थ द्वारा रचित ३ अंकी नाटक, जो विवेकानन्द शत-दीपायन, वेदान्त मठ से १९६५ में प्रकाशित हुआ। इसमं स्वामीजी के जीवन तथा उनकी प्रमुख उपलब्धियों का रसमय वर्णन है।[३७]

(ग) भारत-विवेकम् – यतीन्द्र विमल चौधुरी द्वारा रचित १२ अंकीय नाटक। १९६१ ई. में विवेकानन्द की जन्म-शताब्दी के अवसर पर रचित। अंकों के स्थान पर 'दृश्य' शब्द का प्रयोग है। संगीत-नृत्य से भरपूर। ऐतिहासिक तथा जीवन-चरित्रात्मक नाटक। विवेकानन्द की सम्पूर्ण जीवनगाथा वर्णित है। २ नवम्बर १९६२ को पहली बार विश्वरूप थियेटर में अभिनीत। १९६३ में प्राच्यवाणी से प्रकाशित। बंगाल, दिल्ली तथा पाण्डिचेरी में अनेकों बार अभिनीत।[३८]

(घ) विश्व-विवेकम् भी यतीन्द्र विमल चौधरी द्वारा रचित नाटक है। यह १९६३ ई. में कोलकाता में मंचित और प्राच्यवाणी द्वारा प्रकाशित हुआ।[३९]

(क) निवेदिता-निवेदितम् – डॉ. रमा चौधुरी द्वारा १२ दृश्यों में भगिनी निवेदिता के जीवन की नाट्यात्मक प्रस्तुति। यह १९७७ ई. में प्राच्यवाणी द्वारा प्रकाशित हुई।[४०]

इसके अतिरिक्त श्रीरामकृष्ण-भावधारा के कुछ अन्य महत्त्व-पूर्ण व्यक्तियों पर भी नाटक लिखे गये है, यथा –

---

३४. संस्कृत वाङ्मय कोष, द्वितीय खण्ड, १९८८, पृ. २७२

३५. प्रज्ञा-भारतीयम् (डॉ. श्री. भा. वर्णेकर-महाशयानां समग्र-संस्कृत-साहित्य-संग्रहः), सं. १९९३, नागपुर, पृ. ६२७

३६. संस्कृत वाङ्मय कोष, द्वितीय खण्ड, पृ. ३४०; आधुनिक संस्कृत नाटक, भाग २, पृ. १२५३; जीवन-विकास, मराठी मासिक, मई २००६, पृ. २४२-४३

३७. संस्कृत वाङ्मय कोष, द्वितीय खण्ड, पृ. ३४०

३८. वही, पृ. २३६; आधुनिक संस्कृत नाटक, भाग २, पृ. १०५०

३९. आधुनिक संस्कृत नाटक, भाग २, पृ. १०५०

४०. संस्कृत वाङ्मय कोष, द्वितीय खण्ड, पृ. १६५

(ख) अभेदानन्दम् (रूपक) – कलकत्ता-वासिनी डॉ. रमा चौधरी द्वारा श्रीरामकृष्ण परमहंस के प्रमुख शिष्य स्वामी अभेदानन्द के चरित्र पर रचित यह रूपक १२ दृश्यों में उनकी जीवनी प्रस्तुत करता है। प्राच्यवाणी द्वारा प्रकाशित।[४१]

(ग) रसमयी रासमणि – डॉ. रमा चौधरी। दक्षिणेश्वर में काली-मन्दिर की स्थापना करनेवाली धीवर जाति की विधवा रानी के चरित्र पर आधारित नाटक, जिन्होंने अंग्रेजों द्वारा पीड़ित अपनी प्रजा की साहसपूर्वक रक्षा की थी। नाटक बारह दृश्यों में विभक्त और प्राच्यवाणी द्वारा प्रकाशित है।[४१]

भावधारा के व्याख्यात्मक ग्रन्थ

इनके अतिरिक्त संस्कृत में कुछ ऐसे ग्रन्थ भी लिखे गये हैं, जिनमें भावधारा के विचारों की व्याख्या अथवा विश्लेषण किया गया है। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं –

(क) संन्यास-गीतिः, स्वामी ब्रह्मस्वरूपानन्द, हिन्दी व्याख्या स्वामी अखण्डानन्द पुरी, प्रकाशक उड़िया बाबा आश्रम, बुलन्दशहर, उ.प्र, संस्करण १९९६, पृ. १२८। लेखक ने श्रीरामकृष्ण के दो शिष्यों – स्वामी सारदानन्द से ब्रह्मचर्य-दीक्षा और स्वामी शिवानन्द से संन्यासी-दीक्षा प्राप्त की। इस ग्रन्थ में स्वामी विवेकानन्द की सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कविता 'संन्यासी का गीत' का संस्कृत अनुवाद तथा परम्परागत शैली में संस्कृत भाषा में उसकी टीका प्रस्तुत की गयी है।

(ख) विवेकानन्द-दर्शनम् – नवनीहरण मुखोपाध्याय, प्रकाशक – अखिल भारतीय विवेकानन्द युवा महामण्डल, कोलकाता, १९९३। इस छोटी-सी पुस्तक में संस्कृत श्लोकों के माध्यम से स्वामीजी के विचार तथा उनका अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया गया है।[४३]

(ग) विवेकानन्द-संस्कृत-विद्वद्गोष्ठी-स्मारकाञ्जलिः (प्रथम भाग), संकलक स्वामी अपूर्वानन्द, वर्ष १९६६, श्रीरामकृष्ण अद्वैताश्रम, वाराणसी, पृ. ११५। स्वामीजी के १०४ थे जन्मदिवस के अवसर पर वाराणसी में १५-१६ जनवरी १९६६ को एक संस्कृत-विद्वद्गोष्ठी-सम्मेलन का आयोजन किया गया था, जिसका विषय था – 'वेदान्त-धर्म-प्रतिष्ठाता युगाचार्यो विवेकानन्दः'। यह ग्रन्थ उसी अवसर पर दिये गये संस्कृत व्याख्यानों का संकलन है।

इसका द्वितीय खण्ड भी स्वामी अपूर्वानन्द द्वारा संकलित होकर दिसम्बर १९६७ में श्रीरामकृष्ण अद्वैताश्रम, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। पृष्ठ संख्या ४+१२२। यो रामः यश्च कृष्णः स एव इदानीं रामकृष्णः – विषय पर हुई स्पर्धा में हुए १७ संस्कृत व्याख्यानों तथा १५ लेखों का संकलन है। इसके अन्तिम १८ पृष्ठों में, प्राध्यापक टी. ए. भण्डारकर द्वारा 'श्रीरामकृष्णोपदेश-द्विशती' नाम से श्लोकों में निबद्ध स्वामी ब्रह्मानन्द द्वारा संकलित श्रीरामकृष्ण के २०० उपदेशों को भी प्रस्तुत किया गया है।

(घ) भावधारा के विचारों की संस्कृत भाषा के माध्यम से व्याख्या तथा प्रस्तुति करनेवाली पुस्तकों में स्वामी हर्षानन्दजी द्वारा लिखित तथा बंगलोर के रामकृष्ण मठ द्वारा प्रकाशित कुछ पुस्तकें विशेष महत्त्व रखती हैं। उनमें प्रमुख हैं –

(१) रामकृष्ण-मठस्य आरत्रिक-स्तोत्राणि (व्याख्यान-सहितानि) – स्वामी हर्षानन्दपुरी, श्रीरामकृष्ण आश्रम, बैंगलोर, प्र. सं. १९९६, पृ. ४८ – इसमें कुल ५ अध्याय हैं, जिनमें स्वामी विवेकानन्द द्वारा श्रीरामकृष्ण पर रचित बँगला में आरती तथा संस्कृत स्तोत्र, देवी-माहात्म्य के तीन श्लोक, स्वामी अभेदानन्द रचित सारदादेवी-स्तोत्रम् और स्वामी सारदानन्द रचित 'विवेकानन्द-पंचकम्' पर संस्कृत में टीका है।

(२) नारद-भक्ति-सूत्रम् पर भक्तिकौमुदी व्याख्या – संस्करण २००३, पृ. १४६। मूलतः यह ग्रन्थ कन्नड़ भाषा में लिखा गया था। तर्क-वेदान्त-विद्वान् डॉ. एम. ई. रंगाचार ने इसका संस्कृत में अनुवाद किया। इसमें नारद द्वारा भक्ति पर रचित प्रत्येक सूत्र पर संस्कृत टीका है। भाषा पठनीय तथा सहजबोध्य है।

(३) श्रीविवेकानन्द-कर्मयोग-सूत्र-शतकम् – प्रथम सं. १९७८, द्वितीय सं. १९९६, पृ. १३४। यह स्वामी विवेकानन्द के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कर्मयोग' पर आधारित है। कर्म द्वारा परम तत्त्व की उपलब्धि के विषय में स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में जो विचार व्यक्त किये हैं, इसमें उन्हीं को सौ सूत्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा उनकी सहज सरल अंग्रेजी में व्याख्या भी दी गयी है।

(४) आत्मबोध पर अर्थप्रकाशिनी टीका – सं. १९९६, पृ. ४०। यह आदि शंकराचार्य के सुप्रसिद्ध अद्वैत वेदान्त विषयक ग्रन्थ 'आत्मबोध' पर संस्कृत टीका है। पुस्तक के अन्त में टीका में उद्धृत श्लोकों की तालिका है।

(५) ईशावास्योपनिषद् विवेक-सुखवर्धिनी व्याख्या सहिता – संस्करण १९९७, पृ. ४०। वेदों के ज्ञानकाण्ड के रूप में प्राप्त १०८ उपनिषदों में से सम्भवतः ईशावास्य ही सर्वाधिक लोकप्रिय उपनिषद् है। इस पर संस्कृत भाषा में अनेक भाष्य तथा टीकाएँ लिखी गयी हैं। स्वामी हर्षानन्दजी ने भी उसी शंका-समाधान की परम्परागत शैली में इस टीका की रचना की है। इसमें उन्होंने पूर्वपक्ष से प्रश्न उठाकर श्रुतियों के उद्धरण के साथ उनका समाधान किया है।

❖ (क्रमशः) ❖

४१. वही, पृ. १४

४२. वही, पृ. २९४; आधुनिक संस्कृत नाटक, भाग २, पृ. १०९३

४३. श्रीरामकृष्ण-परिक्रमा, कोलकाता, सं. २००३, भाग २, पृ. ३४

मृत्यु का बोध

महेन्द्रनाथ गुप्त 'म'

भगवान बुद्ध के समय की एक कथा है। बुद्धदेव उन दिनों एक विहार में निवास कर रहे थे। किसी राज्य की एक परम सुन्दरी नगरवधू की मृत्यु हो गयी। उनकी सुन्दरता की ख्याति सम्पूर्ण भारत में फैली हुई थी। महाराजा ने बुद्धदेव की सलाह माँगी कि गणिका के मृतदेह की अन्तिम क्रिया कैसे सम्पन्न की जाय। भगवान बुद्ध बोले, "उसके शरीर को एक काँच के बक्से में रख दो।"

वैसा ही किया गया। कुछ दिनों बाद ही वह शरीर विकृत होने लगा, सड़ने लगा। उसमें बड़े-बड़े कीड़े पैदा होने लगे। उसमें से नाक-मुख आदि सब गल-गलकर गिरने लगे। देह पूरी तौर से विकृत हो गया।

तब बुद्धदेव सभी संन्यासियों तथा भक्तों से बोले, "जाओ, तुम लोग जाकर उस मृतदेह का दर्शन करके आओ।" वे लोग जा-जाकर देखकर लौटने लगे। उन लोगों ने क्या देखा? यही कि जिस शरीर के लिये राजा लोग भी लालायित रहा करते थे, उसी की ऐसी दशा हो गयी है। सड़कर दुर्गन्ध निकल रहा है, कोई उसके पास तक नहीं जा पा रहा है।

चाहे सुन्दरी नारी हो या लम्बी आयु हो, सब अनित्य है, दो दिन के लिये है। मृत्यु मुँह बाये बैठी है और सभी लोग उसके जबड़े में विद्यमान हैं। इसीलिये तो नचिकेता ने यह यह सब त्याग दिया, केवल आत्मा या ईश्वर को पाना चाहा।

* * *

बौद्धों की ही एक दूसरी कथा भी है। एक पिता बौद्ध संन्यासियों की सेवा किया करते थे। वे भी प्राय: संन्यासियों जैसे ही हो गये थे। पुत्र को यह बात पसन्द नहीं थी। वह पिता से हठ करता कि यह सब छोड़ दो। इसी बात को लेकर वह अपने पिता को बहुत सताया भी करता था। परन्तु पिता भीतर-ही-भीतर सन्तों के प्रति बड़ी भक्ति करते थे और ईश्वर-प्राप्ति के लिये व्याकुल थे।

एक न्यायाधीश बड़े ही धर्मप्राण थे। उन्हें इस बात की जानकारी हुई। उन्होंने पुत्र को पकड़ लाने के लिये एक आदेश जारी कर दिया। उसे गिरफ्तार करके कारागार में डाल दिया गया । न्यायाधीश ने उस पर कोई झूठा आरोप लगाकर उसे फाँसी की सजा भी सुना दी। फाँसी एक महीने बाद होनेवाली थी।

न्यायाधीश ने उस लड़के के लिये अच्छी-अच्छी खाने की चीजों की व्यवस्था करके सुख-स्वाच्छन्द्य के साथ कैद में रख दिया। परन्तु लड़का भय के कारण कुछ भी खा-पी नहीं पा रहा था। न्यायाधीश ने एक दिन जेल में जाकर उसकी खोज-खबर ली, "क्यों जी, बड़े दुबले होते जा रहे हो! लगता है कुछ खा नहीं रहे हो। खाना पसन्द नहीं आ रहा है क्या? बोलो, क्या खाना चाहते हो? तुम जो कुछ भी खाना चाहो, मैं वह सब भिजवाने की व्यवस्था कर दूँगा।"

लड़के ने लम्बी साँस लेते हुए कहा, "महाशय, आप भी खाने की बात उठा रहे हैं! आपके ही आदेश पर तो कुछ दिनों बाद मुझे प्राण त्यागना होगा। ऐसी स्थिति में भी क्या खाने में रुचि हो सकती है?" यह कहकर वह खिन्न मन से गाल पर हाथ लगाये बैठा रहा। उस बेचारे को भला खाने में रस कैसे आ सकता था। मृत्यु उसके सामने खड़ी थी।

इस पर न्यायाधीश ने उसे दिलासा देते हुए कहा, "बेटा, तुम्हारी मृत्यु तो एक महीने बाद होगी। उसकी चिन्ता में तुमने अभी से भोजन आदि छोड़ दिया है। तुम सोचते हो कि शरीर को जब कुछ दिनों बाद नष्ट ही होना है, तो इसे पुष्ट करके क्या होगा! तो भाई, यदि किसी को मृत्यु सर्वदा सामने खड़ी दिखायी दे, तो वह अपना मन संसार में भला कैसे लगा सकता है? इसीलिये वह वैराग्य का अवलम्बन करता है। घर में रहते हुए भी वह नाममात्र के लिये घर में रहता है। उसे संसार की अनित्यता और ईश्वर की सत्यता का बोध हो गया है। इसीलिये तो तुम्हारे पिता सर्वदा ईश्वर का चिन्तन किया करते हैं। मृत्यु का चिन्तन आ जाने के कारण ही वे साधुसंग किया करते हैं। उनके अन्तर में संन्यास का भाव आ गया है।"

इतना कहकर उन्होंने हँसते हुए उसका हाथ पकड़कर उसे अपनी गाड़ी पर बैठा दिया और ले जाकर उसके घर तक पहुँचा आये। अब से लड़का अपने पिता को तंग नहीं करता था। वह स्वयं ही समझ चुका था कि मृत्यु की चिन्ता क्या चीज है!

(बँगला 'श्रीम दर्शन', खण्ड १, पृ. ३८९-९१ से)

माँ सारदामणि के चरणों में

स्वामी निर्लेपानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(पिछले अंक से आगे)

मुझे माँ की अहैतुक कृपावर्षा की बात याद आ रही है। १९१८ में माँ ने ब्रह्मचारी रासबिहारी से कहा, "उसे मुझसे दीक्षा लेने को कहो।" पर अविश्वास तथा संशय के वशीभूत होकर मैंने कहा, "अभी दीक्षा लेने का विचार नहीं है।" इसके दो वर्ष बाद जिस दिन मन उतावला हुआ, दीक्षा के लिए व्याकुलता जगी और मन्दिर में माँ से कहने गया, तब कह नहीं सका। राधू ने बीच में कोई झंझट खड़ा कर दिया था। उसी दिन माँ ने अन्तिम बीमारी के कारण रोगशय्या ग्रहण किया। अगले वर्ष माँ के बगल के कमरे में शरत् महाराज की खाट पर लेटे हुए स्वप्न में उन्होंने अशरीरी होते हुए भी मुझ पर कृपा की। मैं हड़बड़ा कर उठ बैठा। मन में शान्ति की एक अद्भुत धारा प्रवाहित होने लगी। किसी चीज को पाने की बड़ी आकुलता हो, तो उसे पा लेने पर जैसी शान्ति मिलती है, वैसी ही शान्ति मिली। फिर जब शरत् महाराज ने वही चीज २१ सितम्बर १९२२ को कानों में सुनाया, तब पुन: उसी शान्ति का बोध हुआ। साथ ही हृदय में एक अन्य भाव भी आया – इनके पादपद्मों में समर्पित होकर जीवन को धन्य करना ही होगा।

माँ को दिन-रात कर्मस्रोत के बीच में देखकर उपनिषदों का बोध सुगम और सहज हुआ। अद्वैतरूपिणी माँ ने हमें १४ वर्षों तक अपनी चरण-छाया में रखा था। उनके नेत्रों को देखकर लगता मानो अभी-अभी चैतन्य नदी में डूबकी लगाकर निकली हैं। पलकों से अनुभूति – सत्य-प्राप्ति का आभास होता। माँ ही सबका आश्रय थीं, पर उनमें कर्त्तापन का भाव जरा भी न था – Un-contaminated ठीक-ठीक निर्लिप्तता। इसकी तुलना कहाँ? सबके बीच में रहकर भी सबसे निर्लिप्त ! आश्रय-आश्रित सम्बन्ध से भी लिप्त नहीं। जरा भी अधोमुखी नहीं। कलकत्ता में जब वे बालिका के समान गोलाप-माँ, योगीन-माँ, शरत् महाराज के अधीन रहतीं, तब जप या ध्यान में रत माँ को देखकर उनका देवीत्व सदा-सर्वदा के लिये हमारे चित्त में स्पष्ट रूप से अंकित हो गया है।

१९१० में माँ उद्बोधन की बहू – घूँघट लगाये। परन्तु मुझ बालक के लिये वे जयरामबाटी की कन्या थी। अति निकट की, सचमुच की माँ थीं। मैंने माँ को जयरामबाटी में नहीं देखा, लेकिन इस बात का मुझे जरा भी दुख नहीं है। १४ वर्ष तक कलकत्ते में माँ को अपनत्व के साथ पाना और अन्तिम चार वर्ष दिन-रात निरन्तर पास रहना परम सौभाग्य की बात है। अब भी उसी मूलधन को भुनाकर चला रहा हूँ।

जयरामबाटी में मातृमन्दिर की स्थापना के कुछ ही पूर्व भक्त दुर्गाबाबू (डॉ. दुर्गापद घोष) की एक विवाहिता पुत्री की ससुराल में सन्देहास्पद स्थिति में मृत्यु होने पर पिता को शोकातुर देखकर शरत् महाराज ने पूछा, "अच्छा, क्या कभी उसे माँ के पास लाये थे? उन्होंने कहा, "हाँ महाराज, बचपन में माँ ने कितनी बार उसे गोद में लिया है, कितना प्रसाद खिलाया है !" तब महाराज ने चैन की साँस लेते हुए कहा, "तो फिर चिन्ता कैसी डॉक्टर ! बच्ची का देहान्त चाहे जैसे भी हुआ हो, परन्तु निश्चित जानना, उसकी असद्-गति कदापि न होगी।" (माँ के वीरभक्त) ललित चटर्जी की बात याद आती हैं। १९२३ की बात है। सर्दी का मौसम था। अन्तिम समय उनका कण्ठ रुद्ध हो गया। मृत्युकाल समीप देखकर उनके सिरहाने बैठे शरत् महाराज ने उच्च कण्ठ से उनके कानों में तीन बार कहा, "ललित, माँ को न भूलना, माँ को न भूलना, माँ को न भूलना।" माँ ज्ञानमयी थीं। शरत् महाराज कहते, "ठाकुर के साथ तर्क करना चलता था। माँ के साथ नहीं चलता।"

१९०६ ई. में मेरी आयु ६ वर्ष थी। तब की बात याद है। दिन के १ बजे आँखों के सामने पिता की मृत्यु हुई। बड़ी बहनें पछाड़ खाकर रोने लगीं। करुण दृश्य था। विशाल-वक्ष, दृढ़-शरीर, भाव-गम्भीर शरत् महाराज को हर सप्ताह योगीन माँ के साथ पिताजी की रोगशय्या के पास देखता। पाँच छोटे-छोटे पुत्र। मेरी माता यदि योगीन-माँ की दुलारी पुत्री नहीं होती, तो सम्भवत: योगीन-माँ का हम लोगों के प्रति इतना आकर्षण न होता। सर्वोपरि, परम हितकारिणी योगीन-माँ का सहारा और शैशवास्था से ही श्रीरामकृष्ण तथा माँ को अपने आत्मीय जन के रूप में पाने का सौभाग्य हमें नहीं मिलता। कलकत्ते के अगणित अनाथ बालकों की तरह हम भी संसार के प्रवाह में कब के बह गये होते। योगीन-माँ

स्वयं देवी-देवताओं द्वारा रक्षित थीं। उन्हें पकड़कर उनके साथ ही हमने भी माँ का द्वार पकड़ा। उन्हीं की वेदी पर हमारा पालन-पोषण हुआ। अपनी माँ गनू के साथ हम लोग बागबाजार में माँ के श्रीचरणों में पहुँचे। हम लोगों का पूरा पारिवारिक दायरा 'बागबाजार' अर्थात् माँ और शरत् महाराज तक ही सीमित था। उस समय माँ किराये के मकान में रहती थीं। रामकृष्ण लेन, जहाँ बागबाजार स्ट्रीट है, ठीक वहीं दक्षिण की तरफ फुटपाथ पर दुमंजिले मकान में माँ रहती थी। मुझे याद है माँ ने मुझे गोद में लिया, मिठाई खिलाया। तब तत्त्व जानने की नहीं, मिठाई खाने की उम्र थी। तो भी जिनके पास जाना हुआ था, वे सचल जीवन्त ज्ञानमय थीं। कविकंकड़ ने लिखा है, ''नारायणी ने गोद में लेकर आशीर्वाद दिया।'' वही बात थी। माँ स्वयं अपने मुँह से कह गयी हैं, ''सभी जीवों में मातृभाव के प्रसार हेतु ही इस बार ठाकुर मुझे छोड़ गये हैं।'' पितृहीन अबोध बालकों की टोली ने उन देहभाव से अतीत श्रीमाँ की असीम स्नेहधारा में सचमुच की माँ को देखकर भी, उस समय निश्चय ही नहीं देखा था, क्योंकि उन्हें समझने के लिये साधना की जरूरत थी।

उसके बाद उद्बोधन का मकान बनते-न-बनते कलकत्ते में पहली बार बेरी-बेरी की महामारी फैली। मेरी माँ गनू को यह रोग हुआ। छोटे भाई बंकू को भी हुआ। बाद में मठ की व्यवस्था में जलवायु-परिवर्तन हेतु काशी जाना पड़ा। वहाँ १९१० ई. में एक-एक कर दो भाइयों और फिर गर्भधारिणी माता का देहान्त हुआ। इसी साल मुझे श्रीमाँ के अपने भवन उद्बोधन में उनका पहली बार दर्शन हुआ। तभी मातृहीन हुआ था और बड़े भाई तथा उनकी पत्नी के अत्याचारों से पीड़ित होकर मुरझाया हुआ था। गौहाटी में एक बहनोई के अन्न पर पलने की मुसीबत से मानो माँ ने ही खींचकर बचा लिया। वहाँ कैसे भी मन नहीं लगता था। उस अप्रिय घर को छुड़ाकर श्रीमाँ ने मुझे खींच लिया। इसके पीछे अन्य किसी का जरा भी हाथ नहीं था। पिता की मृत्यु के बाद पहली बार श्रीमाँ का दर्शन करने आया था; और माँ की मृत्यु के बाद फिर नानी के साथ श्रीमाँ के चरणों में आ गया।

लीला-अभिनय में उन दिनों श्रीमाँ एक ही आधार में श्रीदेव और श्रीदेवी – दोनों ही भूमिकाएँ निभा रही थीं। श्रीरामकृष्ण माँ में विलीन हो गये थे। द्रष्टा राखाल महाराज ने बलराम मन्दिर में अपने सेवक से कहा, 'माँ का दर्शन कर आ। ठाकुर का दर्शन हो जायगा। माँ एक ही आधार में ब्रह्म और शक्ति – दोनों हैं।'' अब ज्यों-ज्यों दिन बीत रहे हैं, माँ की कृपा से उन्हें थोड़ा-थोड़ा समझ रहा हूँ। ...

ये माँ कौन हैं? आयु में तो गोलाप-माँ, योगीन-माँ दोनों ही माँ से बड़ी थीं। लेकिन दैनन्दिन व्यवहार में उन्हें समझने का कोई उपाय नहीं था। उस पहले दिन ही योगीन-माँ छोटी बालिका के समान श्रीमाँ के सामने छोटे-छोटे अनाथ नातियों के लिए अविरल आँसू बहाने लगीं। हम लोग तो भौचक्के थे। हमारे सामने ही वे कातर स्वर में कहने लगीं, ''माँ, ये लोग अनाथ हैं। पहले ही पितृहीन थे, अब मातृहीन भी हो गये। इनका कोई नहीं है, अब क्या होगा? पालन-पोषण कैसे होगा? आज से तुम्हीं इनकी भी माँ हो।'' छह वर्ष पूर्व का दर्शन कुछ-कुछ धूमिल पड़ गया था। इस बार का दर्शन स्पष्ट है। उस समय तो यह समझता नहीं था कि काशी के मणिकर्णिका के महाश्मशान में जिन माँ का दाह-संस्कार किया है, ये माँ उनसे भी बड़ी हैं! जितने भी दिन जीवित रहूँगा, उतने दिन माँ की वही मधुमय, व्यथा-पूरित, संवेदनामय मूर्ति मन में अंकित रहेगी। उन्होंने बारम्बार हम लोगों के सिर पर हाथ फेरते हुए, ठुड्डी पकड़कर हाथ चूमते हुए मधुर स्वर में नानी से कहा, ''भय क्या है बेटी? तुम्हें इनके लिए इतना चिन्तित होने की जरूरत नहीं। इनके ठाकुर हैं।'' उन्होंने प्राण खोलकर आशीर्वाद दिया और प्रसाद देकर धन्य किया। हम लोगों को भय नहीं, ठाकुर हैं; सचमुच की माँ – विद्या-जननी हैं। उनका वह महावाक्य – अभय दायक आप्त वाक्य है। उस परम आश्वासन वाणी – सिद्धमंत्र को हृदयस्थ करते मुझे प्राय: ७० वर्ष लग गये।

काफी उथल-पुथल के बाद, तरह-तरह के अनुभवों तथा अग्निपरीक्षा से गुजरकर देखा है कि माँ की बातें अक्षरश: सत्य हैं, वेदवाक्य हैं, अकाट्य हैं।

प्रथम दर्शन मानो देवी-प्रतिमा का धुँधला दर्शन। द्वितीय बार पतित-पावनी नारायणी का सुस्पष्ट दर्शन। काल की पृष्ठभूमि में सुदीर्घ तपस्या के उपरान्त माँ ने समझा दिया है और अब भी समझा रही हैं कि वे केवल प्रसाद देनेवाली माँ नहीं हैं, ऐसी-वैसी माँ नहीं, अपितु भक्ति-विज्ञान-दात्री, महा-मातृका, त्रिभुवन-तारिणी हैं।

उद्बोधन में माँ ने हम बच्चों को एक प्रकार से अपनी टोली में भर्ती कर लिया। नीरव भाव से बिना किसी के जाने ही यह प्रवेश-कार्य सम्पन्न हुआ। जो ग्रामवासी मुसलमान मजदूर अमजद की माँ हुईं, वे ही हम लोगों की भी माँ हुई थीं – यह बात तब समझ में नहीं आयी थी, पर आज अति सुस्पष्ट है। घटना होने के तत्काल बाद ही उसके तात्पर्य का बोध नहीं होता। इसमें समय लगता है। घटना के गम्भीर तात्पर्य की उपलब्धि तो काफी काल बाद होती है। मास्टर महाशय कहते, ''माँ ने अपने हाथ से प्रसाद दिया है, इसका अर्थ है माँ प्रसन्न हुईं।'' आज समझ सका हूँ कि माँ दृष्टि-मात्र से व्यक्ति को भक्ति और मुक्ति का प्रसाद देने में सक्षम थीं। वे बाहर के सर्व-साधारण लोगों के समक्ष अपनी वास्तविक सत्ता को विनय के आवरण में छिपाये रखती थीं।

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (९)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

एकमात्र भगवान ही 'अपने' हैं

आज २८ दिसम्बर, १९२५ ई. मंगलवार परमाराध्या माँ सारदादेवी की पुन्य जन्मतिथि है। मन्दिर में सन्ध्या-आरती और ध्यान-जप के बाद मठ के साधु-ब्रह्मचारी तथा कृष्णबाबू, केदार बाबू आदि अनेक भक्तगण विश्राम-कक्ष में एकत्र होकर पूजनीय बाबूराम महाराज का वचनामृत पान कर रहे हैं।

बाबूराम महाराज – भगवान ही हमारे एकमात्र 'अपने' हैं। जो लोग भगवान को पुकारते हैं, उनसे प्रेम करते हैं, वे भी हमारे 'अपने' हैं। भगवान से प्रेम करना – उन्हें प्राप्त करना – यही मानव-जीवन का उद्देश्य है, नहीं तो जीवन वृथा है। 'इस जीवन का काम ही क्या भाई, यदि यह काली के प्रेम में न चला जाय; और इस जिह्वा को भी धिक्कार है, यदि यह काली का नाम नहीं लेती।'

महाराज शरीर की हेयता के विषय में एक कहानी बता रहे हैं – "एक गुरु का एक शिष्य था। अनेक वर्षों तक वह गुरु की सेवा करता रहा। इसके बाद गुरु ने शिष्य से कहा, 'जा, संसार की सबसे निकृष्ट वस्तु ले आ।' शिष्य सोचने लगा कि दुनिया की सबसे हेय चीज क्या हो सकती है? उस वस्तु की खोज करते हुए शिष्य एक मैदान में जा पहुँचा। वहाँ विष्ठा को देखकर उसने सोचा कि वही सर्वाधिक घृण्य वस्तु होगी। पर उसने विष्ठा को उठाने के लिए ज्योंही हाथ बढ़ाया, त्योंही उससे आवाज आयी – 'ओह, मुझे मत छूना, मत छूना।' सुनकर शिष्य अवाक् रह गया ! विष्ठा से आवाज आई 'देखो, पहले मैं खीर, पनीर और रबड़ी था। तब मेरा कितना आदर-यत्न हुआ। परन्तु एक बार तुम्हारे सम्पर्क में आकर ही मेरी यह दुर्दशा हुई। अब दुबारा मनुष्य के सम्पर्क में आने पर मेरी और भी न जाने कैसी दुर्गति होगी !' शिष्य को चेतना हुई। उसने विष्ठा को वहीं छोड़ दिया और आश्रम में लौटकर गुरुदेव के चरणों में साष्टांग प्रणत होकर बोला – 'महाराज, मल-मूत्र-विष्ठा आदि का निर्माण करनेवाले इस शरीर से बढ़कर हेय वस्तु संसार में दूसरा कुछ नहीं है। यह तुच्छ-नश्वर देह आपकी सेवा में स्वीकृत हो जाय, तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।' गुरु समझ गये कि शिष्य को सच्चा ज्ञान हो गया है।

"इस हेय विनाशवान शरीर को धारण करके यदि भगवान में भाव, भक्ति, विश्वास, प्रेम आदि की प्राप्ति नहीं हुई, तो धिक्कार है ! ठाकुर मन की दिशा को घुमा देने की बात कहा करते थे। भगवान के साथ एक आन्तरिक सम्बन्ध जोड़ लेना पड़ता है। वे भाव के विषय हैं, उन्हें 'भाव को छोड़ क्या अभाव से पकड़ा जा सकता है'? इसके बाद वे सुर के साथ गाने लगे – (भावार्थ) 'उनका चिन्तन करने से भाव का उदय होता है। जैसा भाव होगा, वैसा ही फल मिलेगा, विश्वास ही मूल बात है। मन यदि काली के चरणरूपी सुधा-सागर में डूबा रहे; तो फिर पूजा, जप, होम आदि कुछ भी आवश्यक नहीं है।' शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य, मधुर – इनमें से किसी भी एक भाव को पकड़कर मन-मुख को एक करके चलने से ही हो गया। ठाकुर कहा करते थे कि मन-मुख को एक करके चलना ही साधना है। ऋषियों का शान्त-भाव था; दास्य-भाव – जैसा महावीर हनुमान और हमारे शशि महाराज का – तुम प्रभु हो और मैं दास हूँ; यशोदा का वात्सल्य-भाव था; कृष्ण-मित्र अर्जुन का सख्य-भाव था; और श्रीमती राधारानी का मधुर-भाव था।

"विश्वास चाहिए – गुरुवाक्य में अटल विश्वास। गिरीश घोष इस विश्वास के बल पर ही पार हो गये। उन्हें कितने ही बुरे तथा समाज के बिगड़े हुए लोगों के साथ रहना पड़ा था ! तो भी वे विश्वास मात्र के बल पर ही तर गये। ठाकुर के ऊपर गिरीश बाबू का अट्ठारह आने विश्वास था।

"पवित्र जीवन गठित करने के लिए आचार चाहिए, निष्ठा चाहिए। छोटे पौधे के लिए बाड़ लगानी पड़ती है, नहीं तो गाय-बकरियाँ चर सकती हैं। आचार-निष्ठा ही वह बाड़ है। गोपाल की माँ की क्या ही निष्ठा थी ! वे बालविधवा थीं; 'गोपाल-गोपाल'* कहते ही उनके नेत्रों में आँसू आ जाते थे। उनका वात्सल्य भाव था, वे गोपाल की उपासक थीं। कामारहाटी में रहती थीं। पहले दिन दक्षिणेश्वर में ठाकुर के दर्शनार्थ आकर उनकी बातें अच्छी लगने पर, वे एक दिन और आयीं। ठाकुर द्वारा माँ-काली का प्रसाद देने पर, उसे धीवर जाति का अन्न मानकर उन्होंने खाया नहीं। पंचवटी में वे स्वयं ही अपनी रसोई बना रही थीं, तभी ठाकुर ने जाकर भोजन को स्पर्श कर दिया। उन्होंने उस अन्न को भी ग्रहण नहीं किया। वे ऐसी निष्ठावान थीं कि दूसरों की तो बात ही क्या, ठाकुर का स्पर्श किया हुआ भी उन्होंने नहीं खाया ! परन्तु बाद में मैंने उन्हीं गोपाल की माँ को देखा है, वे ठाकुर के जूठे पत्तल में भी खाने में कोई द्विधा नहीं करती थीं।

* अपने इष्ट गोपाल-मूर्ति में ठाकुर का दर्शन करने के बाद वे उन्हीं को 'गोपाल' कहा करती थीं।

"ठाकुर कहते थे, 'आगे बढ़ जाओ'। उद्देश्य को भूलकर चिरकाल तक निष्ठावान तथा आचारी होने से क्या लाभ? देखता हूँ कि पण्डितगण बाह्य छिलका-भूसी लेकर ही लड़ाई कर रहे हैं; लक्ष्य को भुला बैठे हैं। निष्ठा चाहिए, आचार चाहिए, पर उन्हीं को लेकर पड़े रहने से काम नहीं चलेगा; आगे बढ़ना होगा। हृदय में भाव, भक्ति, प्रेम की बाढ़ आने पर आचार-निष्ठा आदि सब न जाने कहाँ बह जाते हैं।"

द्वितीय परिच्छेद

बाबूराम महाराज – (कृष्ण बाबू के प्रति) 'गुरुदेव दया करो' वाला भजन गाओ तो ! कृष्ण बाबू गाने लगे –

भव-सागर-तारण-कारण हे,
रवि-नन्दन-बन्धन-खण्डन हे,
शरणागत किंकर भीत मने,
गुरुदेव दया करो दीनजने ।। ...

भजन समाप्त हो जाने पर सबने शीश नवाकर श्री माँ तथा ठाकुर को प्रणाम किया।

बाबूराम महाराज – जीव अपना होश खोकर कामिनी-कांचन की ओर – तुच्छ भोगों की ओर दौड़ रहा है। 'सुख-सुख' – कहते हुए उन्मत्त के समान दौड़ता रहता है, सदा कष्ट पाता रहता है, तो भी सीखता नहीं, भ्रान्ति मिटती नहीं, प्रलोभन त्याग नहीं पाता। बद्ध जीव का मन बन्दर के समान कभी इस डाल पर, तो कभी उस डाल पर उछलता रहता है। सदा चंचल रहता है। लड्डबाजी, अविश्वास, स्वार्थपरता, द्वन्द्व, ईर्ष्या – इन्हीं को लेकर उनका संसार है। ठाकुर कहा करते थे – इसमें सं ही सार है। इसमें सुख नहीं है, शान्ति नहीं है, यह बात वे समझकर भी समझ नहीं पाते; महामाया का यह अद्भुत बन्धन काट नहीं पाते। व्यक्ति पाँकाल मछली के समान जाल के साथ ही कीचड़ में ही मुख को घुसाकर पड़ा रहना चाहता है। इन्द्रिय-जनित क्षणिक सुख में ही सोचता है – मजे में हूँ। इसके बाद जब मछुआरा जाल खींचता है, यम आकर बाँधता है, तब (गाते हुए) '(भावार्थ) कहाँ रहेगा घर-मकान सब, कहाँ रहेगा दालान-कोठा, बोलो-बोलो, बूढ़े चाचा !' "

सभी लोग स्थिरचित्त होकर महाराज की वैराग्यपूर्ण बातें सुन रहे हैं। बाबूराम महाराज – "जहाँ कहीं सत्य, निःस्वार्थता, पवित्रता, त्याग, वैराग्य, अहैतुकी प्रेम है, समझ लेना कि वहीं भगवान का प्रकाश है, वे स्वयं विराजमान हैं। मोहग्रस्त जीव का भवसागर से उद्धार करने के लिए, चंचल अस्थिर मन का दमन करने के लिए, भगवान जगत् में गुरुरूप में अवतीर्ण होते हैं। सामान्य गुरु – जिसकी जैसी साधना है, जिसकी जैसी अनुभूति है, कोई दो सौ, कोई पाँच सौ लोगों को वह सत्य, आनन्दमय पथ दिखा देते हैं, उद्धार कर देते हैं। परन्तु जब जगद्गुरु आते हैं, जब भगवान स्वयं अवतीर्ण होते हैं, तब वे समग्र देश, समग्र जाति और हजारों-लाखों मनुष्यों का उद्धार करते हैं। ठाकुर कहा करते थे – गुरु दो नहीं, एक हैं, सच्चिदानन्द ही गुरु हैं। इसीलिए शास्त्र कहते हैं – गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुशक्ति एक है, परन्तु केवल मूर्तियों में ही भेद है; जैसे विद्युत-शक्ति एक है, (परन्तु) उसके प्रकाश में भेद है – कहीं अल्प शक्ति है, तो कहीं अधिक शक्ति है।

पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रिय-सुहृत्
त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरसि गतिश्चासि जगताम् ।
त्वदीयस्त्वद्भृत्यस्तव परिजनस्त्वद्गतिरहम्
प्रपन्नश्चैवं सत्यहमपि तवैवास्मि हि भवः ।।

"तुम्हीं पिता हो, तुम्हीं माता, तुम्हीं प्रिय पुत्र, तुम्हीं प्रिय सुहृत्, तुम्हीं मित्र, तुम्हीं गुरु तथा जगत् की गति हो; मैं तुम्हारा सेवक, तुम्हारा परिजन हूँ; तुम्हीं मेरी गति हो, मैं पृथ्वी का भारस्वरूप तुम्हारा शरणागत हूँ, मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे हो। तुम्हीं मेरे प्राणों के प्राण हो, आत्मा की आत्मा हो।

"हम लोग ठाकुर को जानते हैं, उन्हें मानते हैं। वे हमारे पिता, माता, सखा, हमारे प्राण और हमारे सर्वस्व हैं। ठाकुर के अतिरिक्त हमारा अपना कुछ भी नहीं है। हम ठाकुर के हैं, ठाकुर हमारे हैं; हम माँ के हैं, माँ हमारी हैं।

"प्रारम्भ में क्या हम लोग इतना धर्म-कर्म समझते थे? पिता-माता से भी बढ़कर उनके हार्दिक स्नेह-प्रेम के आकर्षण से दक्षिणेश्वर जाया करते थे। क्या ही खिंचाव था वह ! क्या ही अहैतुक प्रेम था ! उसकी तुलना नहीं हो सकती ! नरेन के लिए उनका फूट-फूट कर रोना ! फिर कभी प्रिय सखा के समान वे कितने ही प्रकार से हास-परिहास करते ! सांख्य-शास्त्र का जटिल सृष्टितत्त्व, प्रकृति-पुरुषवाद – सब कुछ वे सीधी-सरल बातों में, हास्योद्दीपक कथाओं के माध्यम से हमें समझा देते। उनके हाव-भाव के साथ कथाएँ सुनकर हँसते -हँसते हमारे पेट में बल पड़ जाते। कहानी पूरी करने के बाद वे सृष्टि के कारण के विषय में कहते, 'यह भी है, वह भी है' – पुरुष भी है, प्रकृति भी है। फिर कभी बाईजी लोगों का अनुकरण करते हुए हाथ घुमा-घुमाकर और कभी कमर पर हाथ रखकर नृत्य करते। फिर कभी धर्म के जटिल सिद्धान्त – जिन्हें समझने के लिए कितने ही भाष्य, कितनी टीकाओं तथा उनकी भी टीकाओं को पढ़कर पण्डितों का भी सिर चकरा जाता है – ठाकुर व्यंग-विनोद करते हुए ही सरल बातों में उन सारे धर्मतत्त्वों की मीमांसा करते हुए समझा देते। शिक्षा देने का उनका अद्भुत कौशल चिर-काल के लिए हमारे हृदय में एक गहन छाप छोड़ गया है। ऊँचे ऊँचे धर्मतत्त्वों को सरस ढंग से समझाना ही ठाकुर की शिक्षा का वैशिष्ट्य है।" ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी आत्मानन्द (४)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

स्वामीजी के ग्रन्थों को वे जितना सम्मान दिया करते थे, उसे कहकर नहीं समझाया जा सकता। इस प्रकार के उच्च विचारों से परिपूर्ण किसी पुस्तक को जल्दबाजी में पढ़ जाना उन्हें बिल्कुल भी पसन्द न था। जब वे सम्बलपुर में थे, तब एक दिन कोई उनके समक्ष स्वामीजी का कोई ग्रन्थ इसी प्रकार द्रुत वेग से पढ़ रहा था। आत्मानन्द इस पर असन्तुष्ट होकर बोल उठे, "स्वामीजी की पुस्तक से एक बार में ही इतना सारा पढ़कर क्या कोई उसे हृदयंगम कर सकता है? मैंने तो कई बार उनके केवल एक वाक्य का भाव समझने के लिये पन्द्रह दिनों तक चिन्तन किया है।" मात्र भाषा-ज्ञान या विद्वत्ता के बल पर ही कोई स्वामीजी के वाक्यों का मर्म नहीं समझ सकता – यह बात भी सम्बलपुर की ही एक दिन की घटना के द्वारा समझी जा सकती है। सामान्यत: जिज्ञासु भक्तों में से ही कोई एक व्यक्ति उनके समक्ष स्वामीजी के ग्रन्थों आदि का पाठ किया करता था। वहाँ के एक उच्च शिक्षित सज्जन ने हाल ही में उनके पास आना-जाना शुरू किया था। एक दिन वे आत्मानन्द के पास बैठकर स्वामीजी का कोई ग्रन्थ पढ़कर सुना रहे थे। नवागत पाठक का अंग्रेजी पाठ सचमुच ही खूब प्रशंसनीय था, परन्तु भाव की ओर उनका उतना ध्यान नहीं था। पाठ समाप्त हो जाने के बाद देखने में आया कि आत्मानन्द थोड़े गम्भीर हैं। पाठक सज्जन के चले जाने के बाद वे एक उपस्थित भक्त की ओर उन्मुख होकर बड़े खेदपूर्वक कहने लगे, "... बाबू ने आज का पाठ ही नष्ट कर दिया। आप पहले ही आकर आसन पर बैठकर पाठ आरम्भ कर दीजियेगा। श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी का भाव ग्रहण किये बिना क्या कोई इन ग्रन्थों को ठीक-ठीक पढ़ सकता है? केवल कुछ डिग्रियाँ हासिल कर लेने और अंग्रेजी सीख लेने से क्या होगा? भाव ही असल बात है।"

युगाचार्य स्वामीजी तथा उनके उपदेशों के सन्दर्भ में आत्मानन्द की जीवनी का अध्ययन करने पर उनकी श्रद्धा-विश्वास तथा आन्तरिक आवेग अनेक प्रकार से हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। इस प्रसंग में कई घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। कुछ लोगों के मन में यहाँ तक सन्देह होता कि वे 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ की अपेक्षा स्वामीजी के ग्रन्थों के पाठ पर कहीं अधिक बल देते हैं। केवल एक घटना का उल्लेख करने से ही पाठकों को इसका उत्तर मिल जायगा। एक बार आत्मानन्द ने एक भक्त से पूछा था, "कार्यालय तथा सांसारिक कार्यों के अतिरिक्त आपका बाकी समय कैसे बीतता है?" भक्त ने सविनय उत्तर दिया था, "थोड़ा-थोड़ा 'वचनामृत' पढ़ता हूँ।" उन्होंने पुन: पूछा, "क्या आपने स्वामीजी की भी कुछ पुस्तकें पढ़ी हैं?" उत्तर में "नहीं" सुनकर आत्मानन्द उत्तेजित होकर बोले, "स्वामीजी की पुस्तकें पढ़े बिना तथा उनके भावों को आत्मसात् किये बिना 'वचनामृत' का पाठ करने पर उसे कैसे समझेंगे? 'वचनामृत' इस नवयुग का वेद है और स्वामीजी की ग्रन्थावली उस वेद का ही भाष्य है। भाष्य को पढ़े बिना वेद को नहीं समझा जा सकता। अत: स्वामीजी के भाष्य को पकड़कर 'वचनामृत' का पाठ करने पर तभी उस वेद का भावार्थ हृदयंगम किया जा सकता है।"

सम्बलपुर का एक स्मृति-चित्र यहाँ स्मरणीय है – उस दिन 'वचनामृत' का पाठ चल रहा था। आत्मानन्द तन्मय होकर अनन्य चित्त से उसे सुन रहे थे। पाठ समाप्त हो जाने पर थोड़ी देर मौन बैठे रहने के बाद वे धीरे-धीरे बोले, "वे ही लोग ठाकुर की 'वचनामृत' में लिखी बातों की धारणा कर सकते हैं, जिन्हें परमहंस अवस्था प्राप्त हो चुकी है। केवल मुमुक्षुगण ही उनके उपदेशों को अपने जीवन में रूपायित कर सकते हैं। 'वचनामृत' का पाठ सुनते-सुनते कई लोग कहते हैं, 'ठाकुर ने यह बड़ी अच्छी बात कही है', 'अहा, ये सब कितनी मर्मस्पर्शी बातें हैं!' परन्तु ऐसे लोग कहाँ हैं, जो उनके उपदेशों को जीवन में उतार सकें? देखो, तुम लोगों से सत्य कहता हूँ – ठाकुर के उपदेशों को समझने के लिये स्वामीजी की जीवनी तथा उनके ग्रन्थों को पढ़ना, साधुसंग करना तथा साधन-भजन करना नितान्त आवश्यक है। ठाकुर को समझने के लिये पहले स्वामीजी को समझना होगा। आधुनिक मनुष्य के धर्म-जीवन-गठन के लिये सारे मूल सूत्र स्वामीजी की ग्रन्थावली में निबद्ध हैं।"

आत्मानन्द का वैराग्यपूर्ण जीवन मठ के नवीन ब्रह्मचारियों तथा संन्यासियों के लिये सर्व प्रकार से अनुकरणीय था। शास्त्र आदि के अध्यापन के अतिरिक्त भी, वे उन लोगों को आदर्श साधु होने के पाथेय-रूप में विविध प्रकार के उपदेश तथा प्रेरणा आदि प्रदान किया करते थे। संसार-त्यागी तरुण साधुओं से वे कहते, "अपने पूर्वाश्रम का जीवन पूरी तौर से

भूल जाओ। ऐसा मानो कि मठ में तुम्हारा नया जन्म हुआ है। संन्यास के मंत्रों को बारम्बार पढ़ना और उसके मर्मार्थ को मन में जाग्रत रखना। संन्यासी अपने घर क्यों जायेगा? बारह वर्ष बाद एक बार अपने घर जाने की बात होने पर भी, वह सबके लिये आवश्यक नहीं है।... हरि महाराज (तुरीयानन्दजी) को देखो। संयत-चरित्र साधु का शरीर टूट जाता है, परन्तु उसका मुख पूर्ववत् बना रहता है। संयम का अभाव होने से आँखें बैठ जाती हैं।'' वे कहते कि पत्र-व्यवहार के द्वारा भी पूर्वाश्रम के साथ सम्पर्क रखना संन्यासी के लिये अनिष्टकर है। तथापि एकमात्र अपनी गर्भधारिणी माँ के पत्र का उत्तर दिया जा सकता है – अन्य किसी का पत्र पढ़ना तक अनावश्यक है। वे स्वामीजी द्वारा रचित 'मठ की नियमावली' को प्रतिदिन पढ़ने और यहाँ तक कि कण्ठस्थ करने का भी उपदेश दिया करते थे। ब्रह्मविद्या की उपलब्धि के पथ में जितने भी प्रकार की बाधाएँ हैं, आत्मानन्द उन्हें स्पष्ट भाषा में सबको समझा दिया करते और सावधान भी कर देते।

अस्तु। मठ की जलवायु से आत्मानन्द के स्वास्थ्य में कुछ विशेष सुधार नहीं दिखाई पड़ा। वरिष्ठ संन्यासियों की सलाह तथा गुरुभाई शुद्धानन्द की व्यवस्था के अनुसार जलवायु-परिवर्तन हेतु कुछ दिनों के लिये उनका सम्बलपुर जाना निश्चित हुआ। मठ के एक विशिष्ट भक्त ने वहाँ उनकी सेवा-चिकित्सा आदि का सारा उत्तरदायित्व ग्रहण किया और उन्हीं के घर में आत्मानन्द के निवास की व्यवस्था हुई। तदनुसार १९१६ ई. की दुर्गापूजा के बाद ही वे सम्बलपुर चले गये। इन दिनों उनका स्वास्थ्य इतना खराब था कि उन्हें दिन में करीब बीस-पचीस बार शौच जाना पड़ता था। इन दिनों वे केवल बार्ली का पानी पीकर ही जीवन-धारण करते थे। परन्तु सम्बलपुर के उन पुण्यात्मा भक्त के सेवा-यत्न तथा अच्छी चिकित्सा के फलस्वरूप आत्मानन्द थोड़े ही दिनों में काफी स्वस्थ हो गये। वहाँ का पेय जल उनके लिये बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। शीघ्र ही उनके स्वास्थ्य में इतना सुधार दीख पड़ा कि सभी लोगों ने बड़े आनन्द का अनुभव किया। भगवद्भक्त महात्मा जहाँ कहीं भी निवास करते हैं, वहीं पर मन्दिर या आश्रम का परिवेश बन जाता है। आत्मानन्द के निवास से सम्बलपुर का वह छोटा-सा मकान भी मानो सचमुच के एक आश्रम में परिणत हो गया था। वहाँ प्रतिदिन भक्तों का ताँता लगा रहता और जिज्ञासुओं की भीड़ क्रमश: बढ़ती ही जा रही थी। अनेक संसार से सन्तप्त लोग आकर थोड़ी देर के लिये इन सौम्य-शान्त संन्यासी के सान्निध्य में बैठते और उनसे अपूर्व भावोद्दीपक उपदेश पाकर शान्ति-लाभ करते। उनके कमरे में नियमित रूप से 'वचनामृत', स्वामीजी की ग्रन्थावली और उपनिषद-गीता आदि शास्त्रों का पाठ तथा उन पर चर्चा चलती रहती थी।

आत्मानन्द की गहन ध्यान-तन्मयता का पहले भी उल्लेख किया जा चुका है। इस प्रसंग में उनके सम्बलपुर-निवास के दौरान हुई एक घटना का उल्लेख सम्भवत: यहाँ अप्रासंगिक न होगा। देह थोड़ा स्वस्थ-सबल हो जाने के बाद वे प्रतिदिन पहाड़ तथा जंगल में काफी दूर तक भ्रमण करने जाया करते थे। जंगल से घिरा हुआ एक शिवालय खूब निर्जन स्थान में स्थित था, अत: भ्रमण से लौटते समय वे नियमित रूप से वहीं जाकर एक विशेष शिलाखण्ड पर बैठकर थोड़ी देर तक अपने भाव में डूबे – ध्यान-चिन्तन आदि किया करते थे। सामान्यत: वे एकाकी ही जाते, परन्तु कभी-कभी कोई खूब घनिष्ठ भक्त उनके संगी भी हो जाते। एक दिन संध्या के किंचित् पूर्व आत्मानन्द अपने पूर्व-निर्दिष्ट आसन पर चुपचाप बैठकर भगवत्-चिन्तन कर रहे थे – साथ गये एक भक्त भी उससे थोड़ी ऊँचाई पर पहाड़ से लगी एक सीढ़ी के ऊपर बैठे हुए थे। वनस्थली में क्रमश: संध्या का अन्धकार फैलता जा रहा था। तभी सहसा उनके देखने में आया कि एक विशाल बाघ ध्यानमग्न आत्मानन्द के सामने से सीधे चला आ रहा है। असहाय संगी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर भय से काँपने लगा। अस्तु। बाघ ने एक बार उनकी पत्थर की-सी ध्यानमूर्ति की ओर कटाक्ष से देखा और सिर झुकाकर पुन: जंगल के भीतर चला गया। बाघ के चले जाने के बाद साथ आये सज्जन के पूरे शरीर से पसीना निकलने लगा। उन्होंने अपने पाँवों के जूते खोले और नि:शब्द दौड़कर ध्यानमग्न आत्मानन्द के पास गये और उनसे यथाशीघ्र स्थान त्याग करने का अनुरोध करने लगे। परन्तु वे परम निश्चिन्त भाव से किसी दूसरे ही राज्य में थे – संगी व्यक्ति के बारम्बार पुकारने पर भी उन्होंने काफी देर तक कोई उत्तर ही नहीं दिया।

स्वामी आत्मानन्द का सरल, अनाडम्बर तथा मधुर चरित्र देखकर सम्बलपुर के भक्तगण मुग्ध हो गये थे। उन लोगों ने उस समय उनके शान्त व्यक्तित्व तथा प्रभाव से आकृष्ट होकर वहाँ पर एक स्थायी मठ या आश्रम बनाने की भी चेष्टा की थी। वैसे विभिन्न कारणों से वह योजना कार्य रूप में परिणत नहीं हो सकी थी। आत्मानन्द के जीवन के सम्पर्क में आकर सम्बलपुर के असंख्य भक्तों के हृदय में जैसे शान्ति, आनन्द तथा भगवद्-भाव का बीज अंकुरित हो गया था, वैसे ही अनेक कुपथगामी लोगों का चरित्र भी परिवर्तित होकर भलाई तथा कल्याण-मार्ग पर चल पड़ा था।

यही कारण था कि श्रीरामकृष्ण के वरिष्ठ शिष्यगण उन्हें इतना गौरव प्रदान किया करते थे। जिन भाग्यशाली भक्त ने आत्मानन्द को अपने घर में रखकर उनकी सेवा आदि का भार ले लिया था, वे एक बार कलकत्ते आकर स्वामी प्रेमानन्दजी का दर्शन भी कर गये थे। उस समय प्रेमानन्दजी रुग्ण अवस्था में बलराम-मन्दिर में निवास कर रहे थे। यह

सम्भवत: उनकी महासमाधि के कुछ दिन पूर्व की बात है। आगन्तुक भक्त प्रेमानन्दजी के विशेष स्नेहपात्र थे। कुशल प्रश्न आदि के बाद आत्मानन्द का प्रसंग उठा। प्रेमानन्दजी भक्त से बोले, "शुकुल महाराज कैसे हैं? उनसे मेरा प्रणाम कहना।" महाप्रस्थान के यात्री इन महापुरुष का यह सन्देश जब सम्बलपुर में आत्मानन्द के पास पहुँचा, तो उनके मुख-मण्डल पर जो दिव्य रेखाएँ फैल गयी थीं, उसे समझने की शक्ति हममें से किसी में भी नहीं है। आत्मानन्द ने सजल नेत्रों के साथ दोनों हाथ जोड़कर सिर से लगाकर पूज्यपाद प्रेमानन्दजी के निमित्त प्रणाम निवेदित किया और आवेगपूर्ण कण्ठ से बोल उठे थे, "जय प्रभु, जय माँ, जय गुरुदेव !"

संन्यासी आत्मानन्द के चरित्र में जो पर-दु:ख-कातरता दीख पड़ती है, वह उनके परम-प्रेमिक आचार्य (स्वामी विवेकानन्द) से ही उनमें संक्रमित हुई थी। किसी की भी व्यथा, वेदना, अभाव या दीनता देखकर वे विचलित हो उठते और उनका संन्यासी अन्त:करण क्रन्दन कर उठता। सर्वत्यागी संन्यासी के लिये जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श बताया गया है, उसका यथार्थ तात्पर्य आत्मानन्द को देखते ही समझ में आ जाता था। एक दिन की एक घटना बड़ी मर्मस्पर्शी है। गरमी का मौसम था। एक दिन दोपहर के समय एक अपरिचित कुली प्रचण्ड धूप में कार्य करते-करते पसीने से लथपथ थका-माँदा आखिरकार किंचित् विश्राम की आशा में आत्मानन्द के कमरे के बरामदे में आकर बैठा था। वे कमरे के भीतर ही थे। आहट मिलते ही वे बाहर आये और उस व्यक्ति की असह्य थकान को देखकर अत्यन्त अभिभूत हो उठे। वे तत्काल अपना पंखा उठा लाये और पथश्रान्त कुली-नारायण के पास बैठकर उसे हवा करने लगे। इसके साथ ही वे व्यथित कण्ठ से बारम्बार कहने लगे, "अहा, क्या इसी तरह मनुष्य से परिश्रम कराया जाता है !" इस पर विश्रामरत कुली को बड़े संकोच का बोध होने लगा, परन्तु वह प्रेमिक संन्यासी को इस कार्य से विरत नहीं कर सका। जब तक उस क्लान्त व्यक्ति के पूरे शरीर का पसीना सूख नहीं गया, तब तक उन्होंने बड़े यत्नपूर्वक उसकी सेवा की थी। एक अज्ञात-कुल-शील, नगण्य, रास्ते के कुली को थोड़ी-सी राहत पहुँचाने के लिये ये अस्वस्थ वृद्ध तपस्वी अपना स्वयं का अत्यावश्यक विश्राम त्यागकर उस प्रचण्ड गर्मी के बीच अपने हाथ में पंखा लिये हवा कर रहे थे – यह दृश्य सचमुच ही बड़ी शिक्षाप्रद है।

इस प्रसंग में एक छोटी-सी घटना के द्वारा आत्मानन्द के पर-दु:ख-कातर कोमल हृदय को और भी भलीभाँति समझा जा सकेगा। यह घटना सम्बलपुर की नहीं है, बल्कि तब वे देवघर में बलराम बोस के पुत्र रामकृष्ण बोस के भवन में विश्राम कर रहे थे। एक दिन उस घर की एक छोटी-सी बच्ची को एक बर्र ने डंक मार दिया। इस पर इन संसारत्यागी संन्यासी ने अपने प्राणों में जैसी भीषण पीड़ा का बोध किया था, वह एक प्रत्यक्ष-दर्शिनी के शब्दों में इस प्रकार है –

सम्भवत: १९१३ ई. की बात है। मेरी आयु उस समय सात-आठ वर्ष रही होगी। मेरी भान्जी को बर्र के डंक मार देने पर शुकुल महाराज को कितने कष्ट का बोध हो रहा था ! वे – कैसे वह ठीक हो, कौन-सी दवा देने की जरूरत है – क्या होगा, क्या होगा – करने लगे। उनकी छटपटाहट देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो बर्र ने उन्हीं के शरीर में डंक मारा हो। शुकुल महाराज का स्वभाव ठीक माँ के समान था। इन माया-लेशहीन संन्यासी के चित्त में जो मातृत्व-मण्डित स्नेह का माधुर्य था, उसको समझ पाने में बहुत कम लोग ही सक्षम हो सके थे।

आत्मानन्द साधुता, विनम्रता तथा शिष्टाचार के दृष्टान्त-स्वरूप थे और साथ ही वे अतीव व्यवहार-कुशल भी थे। उनका हृदय कोमलता तथा मधुरता से परिपूर्ण था। तथापि उनके चरित्र का एक विशेष उल्लेखनीय वैशिष्ट्य यह था कि वे हर तरह के मिथ्याचार के प्रति अत्यन्त कठोर थे। यह अन्याय-विरोधिता भी उन्होंने पौरुष के अवतार – स्वामीजी से ही सीखी थी। ये 'कुसुमादपि कोमल' संन्यासी, जरूरत पड़ने पर 'वज्रादपि कठोर' भी हो उठते थे। एक बार सम्बलपुर नगर के एक उच्च पदस्थ अधिकारी अपने अड्डे पर बैठकर चर्चा करते हुए अज्ञानवश संन्यास-आश्रम तथा संन्यासियों के विषय में कई तरह के व्यंग्य करने लगे। उनकी भाषा अशिष्ट तथा अमर्यादित थी। उक्त अड्डे में आने-जानेवाले एक सज्जन ने एक दिन यह बात आत्मानन्द के कानों में पहुँचा दी। इस पर वे उन सज्जन से ही पूछ बैठे, "महाशय, आप तो वहाँ आना-जाना करते हैं और हम लोगों के विषय में सब कुछ जानते हैं। आपने उन उक्तियों का प्रतिवाद करते हुए उन लोगों को समझा क्यों नहीं दिया?" उन सज्जन ने सविनय उत्तर दिया, "सबने मिलकर मुझ पर ऐसा आक्रमण किया कि मैं अकेले उन सबका सामना नहीं कर सका।" आत्मानन्द स्वामी इस पर गरजकर बोल उठे, "आप अभी उन लोगों के पास जाइये और यदि स्वयं कुछ न कह सकें, तो मेरी बातें उन लोगों के कानों तक पहुँचा दीजिये। यदि उन लोगों में सच्चा साहस हो, तो वे लोग मुझे चुनौती दें और जिसका जो भी प्रश्न हो, वह भद्रतापूर्वक मेरे सामने रखे। और यदि उनमें वैसा साहस न हो, तो मैं ही उन्हें यहाँ आमंत्रित करता हूँ। वे अपने सारे वक्तव्य मेरे सामने रखें। मैं स्वामीजी का चेला हूँ, मैं बुलडाग के समान उनमें से प्रत्येक का गला पकड़कर उन्हें शिक्षा दूँगा।" उन्होंने कहना जारी रखा, "वे लोग तो कायर हैं। उनमें भला इतना साहस कहाँ, जो मुझे चुनौती देकर बुलायें या स्वयं मेरे सामने आयें?"

अस्तु। उन सज्जन ने उन लोगों के अड्डे पर जाकर यथा-आदेश सारी बातें उन 'बाबू' लोगों को सुना दी थी। इन निर्भीक तेजस्वी संन्यासी की बातें सुनकर सभी एक-दूसरे के मुख की ओर देखने लगे, किसी के भी मुख से कोई शब्द ही नहीं निकल रहा था। बाद में एक बार फिर उन सज्जन के मुख से सारी बातें सुनकर आत्मानन्द ने क्षोभपूर्वक कहा था, "देखिये, इन लोगों में से कोई वकील है, तो कोई मजिस्ट्रेट। अंग्रेजों की गुलामी करते-करते इन लोगों की रीढ़ टूट गयी है। ये लोग गरीबों के लिये यम-स्वरूप हैं और बलवानों के चाटूकार हैं।... इन लोगों से और आशा भी क्या की जा सकती है? हाय, यह अभिशप्त पराधीन देश!"

इसी तरह की एक अन्य घटना हुई थी। सम्बलपुर में एक बार श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में किसी वक्ता ने स्वामीजी के साथ अपनी घनिष्ठता दर्शाने हेतु कुछ झूठी बातें कही थीं। एक विशिष्ट भक्त उस सभा में उपस्थित थे। उन्होंने आकर आत्मानन्द के समक्ष उस धर्मवक्ता की मिथ्या उक्ति की सूचना दी। आत्मानन्द अत्यन्त उत्तेजित होकर उन भक्त को डाँटते हुए बोले, "ठाकुर ने यहाँ आपको कर्म करने के लिये भेजा है – अमुक-अमुक लोगों की खुशामद करने के लिये नहीं, बल्कि अपने भावों का प्रचार करने भेजा है। इस दूर-दराज अंचल में ठाकुर का भाव-प्रचार ही आपका प्रमुख कार्य है। असत्य तथा अन्याय को आश्रय देना – अनुचित आचरण है तथा झूठ बोलने के समान ही है। आपने ...बाबू के झूठे दावे का प्रतिवाद न करके अपनी दुर्बलता का परिचय दिया है।" सम्बलपुर की जलवायु से उनके स्वास्थ्य में सन्तोषजनक सुधार हो पाने पर १९१९ ई. के पूर्वार्ध में वे पुन: बेलूड़ मठ लौट आये।

इसके बाद हम उन्हें रामकृष्ण मठ, ढाका के अध्यक्ष के रूप में देख पाते हैं। सम्भवत: १९२० के प्रारम्भ में ही वे ढाका गये। आत्मानन्द के ढाका-निवास के प्रसंग में एक बार श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज ने कहा था, "वह बैठा भी रहे, तो काम हो जायेगा।" आत्मानन्द के ढाका जाने के पूर्व महापुरुष शिवानन्दजी ने मिशन के ढाका केन्द्र के तत्कालीन सचिव ठाकुर चरण मुखोपाध्याय को एक व्यक्तिगत पत्र में लिखा था, उसका भी कुछ अंश यहाँ उद्धृत करने योग्य है। उस पत्र में महापुरुषजी लिखते हैं, "स्वामीजी महाराज के एक प्रिय शिष्य – महात्यागी, महाभक्त एवं महा-तपस्वी; और संघ के एक पुराने साधु आत्मानन्द तुम्हारे यहाँ जा रहे हैं। उनकी उपस्थिति से उस अंचल का अनन्त कल्याण होगा। शुकुल महाराज के विषय में महाराज (ब्रह्मानन्दजी) की भी बड़ी ऊँची धारणा है।" स्वामी आत्मानन्द का इससे अधिक सुन्दर परिचय और क्या हो सकता है। आत्मानन्द के ढाका-निवास के दौरान मठ से एक साधु ढाका-केन्द्र के लिये कर्मी के रूप में भेजे जा रहे थे। प्रस्थान के समय स्वामी शिवानन्द का आशीर्वाद लेने जाने पर, उस समय भी उन्होंने उन युवा साधु को खूब उत्साहित करते हुए कहा था, "अच्छा है, जाओ, वहाँ शुकुल है – शिवतुल्य मनुष्य है।" श्रेष्ठ महापुरुषों की इन उक्तियों से आत्मानन्द के प्रति हमारे हृदय में भक्ति ही उद्दीप्त होती है।

ढाका मठ में भी आत्मानन्द की दैनन्दिन जीवनधारा पूर्ववत् ही प्रवाहित होती रही। वे आश्रम के प्रत्येक कार्य में श्री ठाकुर की प्रत्यक्ष उपस्थिति का अनुभव करते। उनकी योगीसुलभ निर्लिप्तता के साथ उद्यमशीलता के सम्मिलन ने सभी की दृष्टि में उनकी महिमा को प्रगट कर दिया था। वहाँ पर भी वे समस्त साधुओं तथा भक्तों के श्रद्धाभाजन बन गये थे। उनका सीधा-सादा दैनन्दिन जीवन अनाडम्बर था, तथापि उनके उपयोग की वस्तुएँ अत्यन्त सुव्यवस्थित रहती थीं। वे कहते, "यदि एक धोती या एक गमछे से काम चल जाय, तो उससे अधिक रखना उचित नहीं है। जिस मन को भगवान के चरण-कमलों में लगाना है, उसे क्या वस्तुओं को सँभालने में लगाना उचित है?" उनके उपयोग की दो-एक चीजें या धोती, कौपीन आदि भी इतने सुन्दर ढंग से समेटकर सजाया हुआ रहता कि देखकर आँखें मुग्ध हो जातीं। कमरे की सफाई करने का झाड़ू तक कमरे के एक कोने में इतने यत्नपूर्वक रखा रहता कि देखते ही लगता कि वे कितने सौन्दर्यप्रिय हैं! अपने सारे कार्य वे स्वयं ही करते – किसी की भी सेवा लेना उन्हें पसन्द नहीं था। इसी कारण कुएँ से पानी निकालने हेतु एक घड़ा तथा एक रस्सी भी वे अत्यन्त सुन्दरतापूर्वक अपने कमरे में ही रखते। इस सुशृंखला के विषय में वे एक सुन्दर बात भी कहा करते थे, "यह मन:संयम का परिचायक है। जो लोग बाहर से अस्त-व्यस्त रहते हैं, वे भीतर से भी वैसे ही रहते हैं। जो अच्छा कलाकार है, वह इच्छा होते ही अच्छा साधु हो सकता है। कलाकार होने के लिये मन:संयम की आवश्यकता है; और मन:संयम हुए बिना धर्म-साधना भी असम्भव है।" वे और भी कहते, 'Everything must be in its proper place' – प्रत्येक वस्तु अपने उचित स्थान पर रखी जानी चाहिये।"

❖ (क्रमशः) ❖

कठोपनिषद्-भाष्य (९)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

द्वितीया वल्ली

भाष्यम् – परीक्ष्य शिष्यं विद्या-योग्यतां च अवगम्य आह –

अनुवाद – शिष्य की परीक्षा लेने तथा उसकी योग्यता जान लेने के बाद उन्होंने (यम) कहा –

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
स्ते उभे नानार्थे पुरुषँ् सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति
हीयतेऽर्थाय उ प्रेयो वृणीते ।।१।।३०।।

अन्वयार्थ – **श्रेयः** निःश्रेयस् अर्थात् मोक्ष-साधन ब्रह्मविद्या **अन्यत्** अलग है, **उत** और **प्रेयः** प्रिय (स्वर्ग, धन, पुत्र आदि की साधनरूप अविद्या) **अन्यत् एव** अलग ही है। **नाना-अर्थे** भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति करानेवाले **ते उभे** वे दोनों (विद्या तथा अविद्या) **पुरुषम्** व्यक्ति को **सिनीतः** आबद्ध करते हैं। **तयोः** उन दोनों – श्रेय तथा प्रेय के बीच, **श्रेयः आददानस्य** श्रेय या विद्या को ग्रहण करनेवाले का **साधु** कल्याण **भवति** होता है। (परन्तु) **यः** जो व्यक्ति **प्रेयः उ** प्रिय लगनेवाले मार्ग का **वृणीते** वरण करता है, वह **अर्थात्** परम लक्ष्य से **हीयते** पतित हो जाता है।

भावार्थ–श्रेयस् अर्थात् मोक्ष-रूपी कल्याण-साधन ब्रह्मविद्या अलग है और (स्वर्ग, धन, पुत्र आदि) प्रिय की साधनभूत अविद्या अलग ही है। भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति करानेवाले ये दोनों (विद्या तथा अविद्या) व्यक्ति को आबद्ध करते हैं। उन दोनों में से – श्रेय या विद्या को ग्रहण करनेवाले का कल्याण होता है। (परन्तु) जो व्यक्ति प्रिय लगनेवाले मार्ग का वरण करता है, वह अपने परम लक्ष्य से पतित हो जाता है।

भाष्यम् – अन्यत् पृथक् एव श्रेयः निःश्रेयसं तथा अन्यत् उतैव अपि च प्रेयः प्रियतरम् अपि । ते श्रेयःप्रेयसी उभे नानार्थे भिन्न-प्रयोजने सती पुरुषम् अधिकृतं वर्णाश्रम-आदि-विशिष्टं सिनीतः बध्नीतः । ताभ्यां विद्या-अविद्याभ्याम् आत्म-कर्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः पुरुषः । प्रेयःश्रेयसोः हि अभ्युदय-अमृतत्वार्थी पुरुषः प्रवर्तते ।

भाष्य-अनुवाद – श्रेय (श्रेष्ठ) वस्तु भिन्न है और वैसे ही प्रेय अर्थात् प्रियतर लगनेवाली वस्तु भी भिन्न ही है। श्रेय तथा प्रेय – ये दोनों भिन्न प्रयोजन वाली हैं और वर्ण-आश्रम आदि विशिष्ट अधिकारी व्यक्ति को अपने में बाँध लेती हैं। सभी व्यक्ति विद्या तथा अविद्या विषयक अपने व्यक्तिगत कर्तव्य के भाव से इन दोनों की ओर प्रवृत्त होते हैं। तदनुसार अभ्युदय (भौतिक समृद्धि) को चाहनेवाला प्रेय की ओर तथा अमृतत्व (मोक्ष) को चाहनेवाला श्रेय की ओर प्रवृत्त होता।

अतः श्रेयःप्रेयःप्रयोजन-कर्तव्यतया ताभ्यां बद्ध इति उच्यते सर्वः पुरुषः । ये यद्यपि एकैक-पुरुषार्थ-सम्बन्धिनी विद्या-अविद्या-रूपत्वात् विरुद्धे इति अन्यतरा-परित्यागेन एकेक पुरुषेण सह-अनुष्ठातुम् अशक्यत्वात् तयोः हित्वा अविद्या-रूपं प्रेयः, श्रेय एव केवलम् आददानस्य उपादानं कुर्वतः साधु शोभनं शिव भवति । यस्तु अदूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्यते अर्थात् पुरुषार्थात् पारमार्थिकात् प्रयोजनात् नित्यात् प्रच्यवत इत्यर्थः । कोऽसौ? य उ प्रेयः वृणीते उपादत्ते इति एतत् ।। १/२/१ (३०)।।

भाष्य-अनुवाद – अतः यह कहा जाता है कि सभी लोग श्रेय तथा प्रेय की आवश्यकता के कर्तव्य के अनुसार इन दोनों से बँधे हुए हैं। यद्यपि ये दोनों मनुष्य-जीवन के पुरुषार्थों (समृद्धि तथा मुक्ति) से जुड़ी हुई हैं, परन्तु ये एक-दूसरे के इतने विरोधी हैं, जैसे कि ज्ञान तथा अज्ञान। अतः एक ही व्यक्ति द्वारा इन दोनों में एक का त्याग किये बिना दूसरे का अनुष्ठान करना असम्भव होने के कारण, जो व्यक्ति इनमें से अविद्यारूपी प्रेय को त्यागकर केवल श्रेय को ही ग्रहण करता है, इसके फलस्वरूप उसका साधु अर्थात् कल्याण होता है। (परन्तु) अदूरदर्शी मूढ़ अपने नित्य परमार्थिक लक्ष्य से च्युत हो जाता है। ऐसा कौन व्यक्ति है? वह जो प्रेय को ग्रहण करता है – इसका यही तात्पर्य है।

भाष्यम् – यत्-उभे अपि कर्तुं स्वायत्ते पुरुषेण, किमर्थं प्रेय एव आदत्ते बाहुल्येन लोक इति, उच्यते –

अनुवाद – यदि दोनों ही व्यक्ति की अपनी इच्छा के अधीन है, तो फिर अधिकांश लोग क्यों प्रेय को ही चुनते हैं – अब यही बताते हैं –

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ।।२ (३१) ।।

अन्वयार्थ – **श्रेयः च प्रेयः च** श्रेय और प्रेय (हित अर्थात् मुक्ति और प्रिय अर्थात् भोग – दोनों ही) **मनुष्यम्** मनुष्य के सामने **एतः** आते हैं। **धीरः** विवेकवान् व्यक्ति **तौ** दोनों पर **सम्परीत्य** भलीभाँति विचार करके **विविनक्ति** दोनों को अलग करते हैं। **धीरः** विवेकी व्यक्ति **प्रेयसः** (भोग आदि) प्रिय वस्तुओं में से **श्रेयः हि अभिवृणीते** हितकर (विद्या) को ही उत्तम समझकर ग्रहण करता है; (परन्तु) **मन्दः** अल्पबुद्धि व्यक्ति **योगक्षेमात्** योग अर्थात् भोगों तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति और क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तुओं की रक्षा के लिए **प्रेयः** प्रिय लगनेवाले मार्ग को ही **वृणीते** चुनता है।

भावार्थ – श्रेय और प्रेय (हित अर्थात् मुक्ति और प्रिय अर्थात् भोग – दोनों ही) मनुष्य के सामने आते हैं। विवेकवान् व्यक्ति दोनों पर भलीभाँति विचार करके दोनों को अलग करते हैं। विवेकी व्यक्ति (भोग आदि) प्रिय वस्तुओं में से हितकर (विद्या) को ही उत्तम समझकर ग्रहण करता है; (परन्तु) अल्पबुद्धि व्यक्ति योग अर्थात् भोगों तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति और क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तुओं की रक्षा के लिए प्रिय लगनेवाले मार्ग को ही चुनता है।

भाष्यम् – सत्यं स्वायत्ते, तथापि साधनतः फलतः च मन्द -बुद्धीनां दुर्विवेक-रूपे सती व्यामिश्रीभूते इव मनुष्यं पुरुषम् आ इतः एतः प्राप्नुतः श्रेयश्च प्रेयश्च । अतो हंस इव अम्भसः पयः, तौ श्रेयःप्रेयःपदार्थौ सम्परीत्य सम्यक् परिगम्य मनसा आलोच्य गुरु-लाघवं विविनक्ति पृथक्करोति धीरः धीमान् ।

भाष्य-अनुवाद – सचमुच, (यह चयन) उसके अपने अधीन है, तथापि चूँकि मन्दबुद्धि लोगों के अविवेक द्वारा उन (दोनों) के साधन तथा फल की दृष्टि से पार्थक्य नहीं किया जा सकता, अतः श्रेय तथा प्रेय मनुष्य के समक्ष मानो मिले-जुले (अस्पष्ट) रूप में उपस्थित होते हैं। अतएव जैसे हंस पानी में से दूध को निकाल लेता है, वैसे ही धीर अर्थात् विवेकी व्यक्ति श्रेय तथा प्रेय पदार्थों को भलीभाँति समझकर, मन से विचार करके उनमें से उत्कृष्ट तथा निकृष्ट पदार्थों को अलग-अलग कर लेता है।

विविच्य च श्रेयो हि श्रेय एव अभिवृणीते प्रेयसः अभ्य-र्हितत्वात् श्रेयसः । कोऽसौ? धीरः । यस्तु मन्दः अल्प-बुद्धिः सः सद्-असद्-विवेक-असामर्थ्यात् योगक्षेमात् योग-क्षेम-निमित्तं शरीर-आदि-उपचय-रक्षण-निमित्तम् इति एतत् । प्रेयः पशु-पुत्र-आदि-लक्षणं वृणीते ।। १/२/२ (३१)।।

इस प्रकार विभाग करने के बाद प्रेय की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण श्रेय को ही चुनता है। कौन है ऐसा व्यक्ति? जो धीर अर्थात् बुद्धिमान् है। और जो मन्द या अल्पबुद्धि व्यक्ति है, वह विवेक-शक्ति के अभाव में, योगक्षेम अर्थात् शरीर आदि के पोषण तथा रक्षण आदि को ध्यान में रखते हुए प्रेय अर्थात् पुत्र-पशु आदि को चुन लेता है।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामान्
अभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैताँ सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ।।३ (३२)।।

अन्वयार्थ – **नचिकेतः** हे नचिकेता, **सः त्वम्** मेरे द्वारा बारम्बार प्रलोभित होकर भी तुमने **प्रियान्** प्रिय पुत्र आदि **प्रियरूपान् च** और आनन्द देनेवाले अप्सरा आदि प्रिय **कामान्** भोग्य वस्तुओं का **अभिध्यायन्** उनकी असारता तथा अनित्यता पर भलीभाँति विचार करते हुए **अत्यस्राक्षीः** परित्याग कर दिया। **एताम्** इस **वित्तमयीम्** धनयुक्त **सृङ्काम्** संसार मार्ग को, **यस्याम्** जिसमें **बहवः** बहुत से **मनुष्याः** लोग **मज्जन्ति** डूब जाते हैं, **न अवाप्तः** तुमने स्वीकार नहीं किया।

भावार्थ – हे नचिकेता, मेरे द्वारा बारम्बार प्रलोभित करने पर भी तुमने प्रिय पुत्र आदि और आनन्द देनेवाले अप्सरा आदि प्रिय भोग्य वस्तुओं का उनकी असारता तथा अनित्यता पर भलीभाँति विचार करते हुए परित्याग कर दिया। इस धनयुक्त संसार मार्ग को, जिसमें बहुत से लोग डूब जाते हैं, तुमने स्वीकार नहीं किया।

भाष्यम् – स त्वं पुनः पुनः मया प्रलोभ्यमानः अपि प्रियान् पुत्रादीन् प्रियरूपान् च अप्सरःप्रभृति-लक्षणान् कामान् अभिध्यायन् चिन्तयन् तेषाम् अनित्यत्व-असारत्व-आदि-दोषान् हे नचिकेतः, अत्यस्राक्षीः अतिसृष्टवान् परित्यक्तवान् असि; अहो बुद्धिमत्ता तव । न एताम् अवाप्तवान् असि सृङ्कां सृतिं कुत्सितां मूढजन-प्रवृत्तां वित्तमयीं धनप्रायाम्; यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति बहवः अनेके मूढा मनुष्याः ।। १/२/३ (३२) ।।

भाष्य-अनुवाद – हे नचिकेता, मेरे द्वारा बारम्बार पुत्र आदि प्रिय लगनेवाले तथा अप्सराओं आदि काम्य वस्तुओं का प्रलोभन देने पर भी, तुमने उनकी अनित्यता, असारता आदि दोषों पर विचार करते हुए उनका परित्याग कर दिया। धन्य है तुम्हारी बुद्धिमत्ता! तुमने उस धन-सम्पदा युक्त कुत्सित मार्ग पर चलना स्वीकार नहीं किया, जिस ओर अज्ञानी जनों की सहज प्रवृत्ति होती है और जिसमें अनेक मूढ़ लोग डूब जाते हैं अर्थात् दुःख के भागी बनते हैं।

* * *

❖ (क्रमशः) ❖

महावाक्य पर विचार (जारी)

नेदं नेदं कल्पितत्वान्न सत्यं
रज्जु-दृष्ट-व्यालवत्स्वप्नवच्च ।
इत्थं दृश्यं साधुयुक्त्या व्यपोह्य
ज्ञेयः पश्चादेकभावस्तयोर्यः ।।२४६।।

अन्वय – 'न इदं, न इदं' – कल्पितत्वात् न सत्यं रज्जौ दृष्ट-व्यालवत् च स्वप्नवत् । इत्थं दृश्यं युक्त्या साधु व्यपोह्य पश्चात् तयोः एकभावः ज्ञेयः ।

अर्थ – 'यह नहीं है', 'यह नहीं है' – (ऐसा कहना) भी कल्पित (उपाधि) होने के कारण सत्य नहीं है, उसी प्रकार जैसे कि रज्जु में देखा हुआ सर्प तथा स्वप्न में देखा हुआ जगत् (सत्य नहीं है)। इस प्रकार समुचित युक्तियों के द्वारा दृश्य जगत् का निषेध करके तत्पश्चात् (ब्रह्म तथा जीव के) एकत्व को जान लेना चाहिये ।

ततस्तु तौ लक्षणया सुलक्ष्यौ
तयोरखण्डैकरसत्व-सिद्धये ।
नालं जहत्या न तथाऽजहत्या
किन्तूभयार्थात्मिकयैव भाव्यम् ।।२४७।।

अन्वय – ततः तु तयोः अखण्ड-एकरसत्व-सिद्धये तौ लक्षणया सुलक्ष्यौ जहत्या न अलं तथा अजहत्या न, किन्तु उभय-अर्थ-आत्मिकया एव भाव्यम् ।

अर्थ – अतएव (ईश्वर तथा जीव) इन दोनों की अखण्ड एकरसता प्रमाणित करने के लिये 'लक्षणा'* वृत्ति के द्वारा उन्हें भलीभाँति देखना चाहिये – यहाँ केवल 'जहती' लक्षणा या केवल 'अजहती' लक्षणा यथेष्ट नहीं है । अपितु 'जहती' तथा 'अजहती' – इन दोनों लक्षणाओं को एकत्र करके ही आत्म-स्वरूप पर विचार करना चाहिये ।

स देवदत्तोऽयमितीह चैकता
विरुद्धधर्मांशमपास्य कथ्यते ।
यथा तथा तत्त्वमसीतिवाक्ये
विरुद्धधर्मानुभयत्र हित्वा ।।२४८।।
संलक्ष्य चिन्मात्रतया सदात्मनो-
रखण्डभावः परिचीयते बुधैः ।
एवं महावाक्यशतेन कथ्यते
ब्रह्मात्मनोरैक्यमखण्डभावः।।२४९।।

अन्वय – यथा 'सः अयं देवदत्तः' – इति इह विरुद्ध-धर्मांशम् अपास्य यथा च एकता कथ्यते, तथा बुधैः 'तत्-त्वम्-असि' इति वाक्ये उभयत्र विरुद्ध-धर्मान् हित्वा, संलक्ष्य चिन्मात्रतया सत्-आत्मनोः अखण्डभावः परिचीयते एवं महावाक्य-शतेन ब्रह्मात्मनोः अखण्डभावः ऐक्यं कथ्यते ।

अर्थ – जैसे 'वह यह देवदत्त है' – इस वाक्य में विरुद्ध गुणों के अंश को त्यागकर एकता बतायी गयी है, वैसे ही 'तत्-त्वम्-असि' (वह तुम हो) – वाक्य में तत् (वह) त्वम् (तुम) दोनों शब्दों के विरुद्ध गुणोंवाले अंशों को त्यागकर, समुचित विचार करके चैतन्य मात्र लक्षण के द्वारा ब्रह्म तथा आत्मा की अखण्डता, ज्ञानी लोगों द्वारा पहचान ली जाती है । इसी प्रकार सैकड़ों महावाक्यों से ब्रह्म तथा आत्मा की अखण्ड रूप से एकता बतायी जाती है

अस्थूलमित्येतदसन्निरस्य
सिद्धं स्वतो व्योमवदप्रतर्क्यम् ।
अतो मृषामात्रमिदं प्रतीतं
जहीहि यत्स्वात्मतया गृहीतम् ।
ब्रह्माहमित्येव विशुद्धबुद्ध्या
विद्धि स्वमात्मानमखण्डबोधम् ।।२५०।।

अन्वय – 'अस्थूलम्' इति एतत् असत् निरस्य, स्वतः सिद्धम् व्योमवत् अप्रतर्क्यम् । अतः यत् स्व-आत्मतया गृहीतम् इदं प्रतीतं मृषामात्रं जहीहि । विशुद्ध-बुद्ध्या ब्रह्म अहम् एव इति अखण्ड-बोधम् स्वम् आत्मानम् विद्धि ।

अर्थ – 'अस्थूलम्' (यह स्थूल नहीं है) आदि श्रुति-वाक्यों की सहायता से इस असत्य शरीर आदि का निषेध करने से (उस आत्मा की अनुभूति होती है), जो स्वतःसिद्ध आकाशवत् निर्लिप्त तथा बुद्धि के अतीत है । अतः जो अनात्म वस्तुएँ अपनी आत्मा के रूप में तादात्म्य किये हुए प्रतीत हो रही हैं, उन्हें मिथ्या जानकर त्याग दो और विशुद्ध-बुद्धि की सहायता से – ब्रह्म ही मैं हूँ – इस प्रकार अखण्ड ज्ञान-स्वरूप अपनी आत्मा की अनुभूति कर लो । ❖ **(क्रमशः)** ❖

* वेदान्त में शब्दों के अर्थ-निर्धारण के लिये तीन प्रकार के लक्षणाओं का प्रयोग किया जाता है – 'जहती', 'अजहती' तथा 'भाग' लक्षणा । 'जहती' अर्थात् त्यागती हुई लक्षणा – इसमें शब्दार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ को लिया जाता है । 'अजहती' अर्थात् न त्यागती हुई लक्षणा – इसमें शब्दार्थ को ही लिया जाता है, परन्तु लक्षणा से सहायता लेनी पड़ती है और 'जहती-अजहती लक्षणा' या 'भाग-त्याग लक्षणा' में शब्दार्थ तथा लक्ष्यार्थ का कुछ अंश त्यागना पड़ता है तथा कुछ अंश लेना पड़ता है, जैसा कि अगले श्लोक में बताया गया है ।

नया प्रकाशन — संग्रहणीय ग्रन्थ

माँ की मधुर स्मृतियाँ

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी के ३१ चुनिंदा संस्मरणों का संकलन)

पृष्ठ संख्या – ३६४
मूल्य – रु. १००/– (डाक व्यय अलग)

लिखें – अद्वैत आश्रम, ५ दिही एण्टाली रोड, कोलकाता ७०० ०१४

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१९६. ममता और अहंता त्यागो

एक बार संत गुलवनी महाराज के पास उनका एक शिष्य आया और उसने कहा, "महाराज, मैं नियमित रूप से साधना करता हूँ, मगर मेरे मन में सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण बना ही रहता है। कृपया बताएँ कि किस विधि से मैं एकाग्र चित्त से साधना कर सकूँगा।"

गुलवनी महाराज ने कहा, "तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ, उसे ध्यान से सुनो – एक बार अवन्तिका-नरेश गंगा-स्नान करने काशी गये। वहाँ उन्हें मणिकर्णिका घाट की सीढ़ियों पर एक साधु बैठा हुआ दिखाई दिया। वे त्रैलंग स्वामी थे। राजा ने उनसे कहा, "अवन्तिका का राजा स्नान करने जा रहा है और तुम बीच में रास्ता अड़ाये बैठे हो।"

यह सुनकर त्रैलंग स्वामी तुरन्त उठ खड़े हुए और राजा के म्यान से तलवार निकालकर उन्होंने उसे नदी के जल में फेंक दिया। इस पर राजा को गुस्सा आ गया। वह बोला, "तुम तो पागल मालूम पड़ते हो।" त्रैलंग स्वामी राजा की तरफ देखकर मुस्कुराए। फिर नदी में हाथ डालकर उन्होंने दो तलवारें निकालीं और राजा से कहा, "इनमें से अपनी तलवार ले लो।" राजा को दोनों तलवारें एक समान मालूम पड़ी। उसने कहा, "मेरी तलवार पहचानना कठिन है।" त्रैलंग स्वामी बोले, "जब तुम अपनी तलवार पहचान नहीं सकते, तो तलवार तुम्हारी कैसे हुई?" फिर उन्होंने एक तलवार को नदी में फेंककर दूसरी राजा को देते हुए कहा, "तुम्हारी तलवार यह है।" राजा समझ गया कि ये कोई सिद्ध पुरुष हैं और उसने स्वामीजी से क्षमा माँगी।"

कथा सुनाकर गुलवनी महाराज बोले, "हमारा नश्वर शरीर भी राजा की तलवार के समान हमारा नहीं होता। हम भ्रान्ति, माया तथा आत्म-विषयक अज्ञान के कारण इस शरीर को और जिन चीजों से हमारा सम्बन्ध हो जाता है, उन्हें भी हम अपनी समझ बैठते हैं। जब तक सभी वस्तुओं से मोह तथा ममत्व नहीं जाता, तब तक साधना सफल नहीं हो सकती। हमें संसार की वस्तुओं के प्रति अनासक्ति-भाव रखना होगा।"

शरीर के प्रति अहंता और व्यक्तियों तथा वस्तुओं से ममता ही आसक्ति तथा मानवीय बन्धन के कारण है। ममता एवं आसक्ति के त्याग से ही साधना में प्रगति हो सकती है।

१९७. यह मन चंचल छिन छिन डोलत

सन्त सुन्दरदास का जब फतहपुर सीकरी में आगमन हुआ, तो वहाँ का नवाब उनसे मिलने गया। प्रणाम करने के बाद उसने कहा, "जब मैं खुदा की इबादत करता हूँ, तो मेरे दिल में अलग-अलग किस्म के ख्याल उठते हैं और मैं ठीक ढंग से इबादत नहीं कर पाता। इसकी वजह क्या है और इसे कैसे रोका जा सकता है?"

सन्त ने एक सिपाही से एक कटोरा पानी ले आने को कहा। पानी आने पर उन्होंने अपने पास की थोड़ी-सी भभूत डाली और नवाब से कटोरे में अपना चेहरा देखने को कहा। नवाब ने कटोरे में चेहरा देखना चाहा। मगर दिखाई न देने पर उसने कहा, "मुझे इसमें अपना चेहरा दिखाई नहीं देता।" तब सन्त ने दूसरा पानी लाने को कहा। पानी आने पर कटोरे को हिलाते हुए नवाब से कहा, 'अब साफ-साफ दिखाई देगा।" नवाब ने कहा, "अब भी चेहरा साफ-साफ दिखाई नहीं देता।" सन्त ने तीसरी बार पानी मँगाकर नवाब से फिर चेहरा देखने को कहा। नवाब ने उत्तर दिया, "हाँ, अब चेहरा साफ-साफ दिखाई देता है।"

संत ने पूछा, "पहले क्यों नहीं दिखाई दे रहा था, इसका कारण जानते हो?" नवाब ने उत्तर दिया, "जी नहीं।"

सन्त ने बताया, "इसकी वजह यह है कि पानी पहले मटमैला होने के कारण और दूसरी बार अस्थिर होने के कारण आपको चेहरा दिखाई देने में कठिनाई हो रही थी। हमारे दिल की भी यही हालत है। दिल में दुनियादारी के या फिर उल्टे-सीधे विचार उठने पर और स्थिर न रहने के कारण इबादत में बाधा आती है और दिल भटकने लगता है। पानी के समान दिल साफ रहे और ढुलमुल अवस्था में न रहे, तो आप आसानी से इबादत कर सकेंगे।"

नवाब सन्तुष्ट होकर चला गया।

हमारा मन घोड़े के समान दौड़ता रहता है और शरीर रूपी रथ को इधर-उधर भटकाता रहता है। इस घोड़े को जब तक विवेक-रूपी लगाम से नियंत्रण में नहीं रखा जाता, तब तक यह व्यक्ति को गलत रास्तों पर दौड़ाता रहता है। मन रूपी घोड़े पर नियंत्रण रहने पर ही जीवन के लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। ❑❑❑

स्वामी विवेकानन्द की १५० वर्षगांठ पर भारत में रामकृष्ण मिशन के विभिन्न केन्द्रों द्वारा २०११ में आयोजित कार्यक्रमों की कुछ झलकियाँ

आसनसोल के रामकृष्ण मिशन आश्रम में विगत २६ एवं २७ फरवरी २०११ को एक राज्यस्तरीय सेमीनार का आयोजन किया गया जिसका मुख्य बिन्दु था – **'सर्व-धर्म-समन्वय'**। इस सेमीनार का उद्घाटन श्री शंकर रॉयचौधरी, भूतपूर्व मुख्य आर्मी स्टॉफ के हाथों सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर रामकृष्ण मठ व मिशन के महासचिव श्रीमत् स्वामी प्रभानन्दजी ने मुख्य अभिभाषण दिया।

दिल्ली के रामकृष्ण मिशन ने स्वामी विवेकानन्द की १५० वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में ९ फरवरी को एक सार्वजनिक सभा तथा १२ तथा १३ फरवरी को प्रधानाचार्यों, प्राध्यापकों और शैक्षणिक प्रशासकों हेतु दो दिवसीय सेमिनार का आयोजन किया। इसका उद्घाटन भारत सरकार के 'मानव संसाधन विभाग' के माननीय मंत्री श्री कपिल सिब्बल ने किया।

बड़ोदरा के रामकृष्ण मिशन द्वारा इस अवसर पर स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर आधारित लिखित **पहेली-प्रतियोगिता** का आयोजन किया गया, जिसमें ७३३ विद्यालयों से ३४,२६७ विद्यार्थियों ने भाग लिया। गुजरात की महामहिम राज्यपाल डॉ. श्रीमती कमला जी के कर-कमलों द्वारा विजेताओं को पुरस्कृत किया गया। इसी आश्रम द्वारा २७ मार्च २०११ को एक सर्वधर्म-सभा का आयोजन किया गया। इस अवसर पर सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री पी. एन. भगवती ने अपने व्याख्यान में कहा, ''संसार के सभी धर्म परस्पर सद्भाव, शान्ति, अहिंसा और सत्य की बात करते हैं, इसलिये उनके अनुयाइयों का आपस में किसी प्रकार का विवाद नहीं होना चाहिये।'' समारोह का उद्घाटन विभिन्न संस्थानों के छात्रों द्वारा विभिन्न धर्मों की प्रार्थनाओं के साथ हुआ। रामकृष्ण मठ व मिशन, बेलूड़ मठ के वरिष्ठ न्यासी स्वामी भजनानन्दजी ने अपने प्रारम्भिक भाषण में कहा कि सारी दुनिया में लोग एकाकीपन तथा जीवन की निरर्थकता आदि समस्याओं से ग्रस्त हैं। अत: सभी धर्मों को परस्पर संघर्ष करने के बदले मानवता की शान्ति एवं सांत्वना हेतु सामूहिक प्रयास करना चाहिये।

विशाखापट्टनम् के रामकृष्ण मिशन ने 'शिक्षा : स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में' विषय पर २० फरवरी २०११ को एक **निबन्ध-लेखन प्रतियोगिता** का आयोजन किया, जिसमें लगभग १५० विद्यार्थी शामिल हुए और २७ फरवरी को एक दिवसीय युवा सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें कुल १२८ युवा प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया।

मन्दिर के गोपुरम् का उद्घाटन – कर्नाटक राज्य के बेलगाम में स्थित रामकृष्ण मिशन आश्रम में रामकृष्ण मन्दिर के नवनिर्मित गोपुरम् का समर्पण रामकृष्ण मठ के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्दजी महाराज के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। ४ फरवरी २०११ को भूतपूर्व उप-प्रधानमंत्री श्री लालकृष्ण आडवानी ने सभामण्डप का उद्घाटन किया। इसी कड़ी में पूर्व-राष्ट्रपति डॉ. ए. पी. जे अब्दुल कलाम ने युवकों को सम्बोधित किया। श्रीमती अनुराधा पौड़वाल का भजन, पण्डित हरिप्रसाद चौरसिया का बांसुरी-वादन तथा श्री शेखर सेन द्वारा स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर एकपात्री नाटक का मंचन किया गया। ये कार्यक्रम – ४ से ७ फरवरी के दौरान आयोजित किये गये थे।

मुख्यमंत्री द्वारा आश्रम-भ्रमण – गत २३ फरवरी को झारखण्ड के माननीय मुख्यमंत्री श्री अर्जुन मुण्डा मोराबादी, राँची के रामकृष्ण मिशन आश्रम द्वारा संचालित दिव्यायन कृषिविज्ञान केन्द्र में पधारे और इस संस्था द्वारा चलाए जा रहे सेवा-कार्यों का विहंगम अवलोकन किया एवं प्रशंसा की।

'धार्मिक सद्भावना की खोज' विषय पर राज्य स्तरीय सेमिनार – पूना के रामकृष्ण मठ में १२ एवं १३ मार्च को युगनायक स्वामी विवेकानन्द की १५०वीं जयन्ती के शुभ अवसर पर 'धार्मिक सद्भावना की खोज' विषय पर एक दो-दिवसीय सेमिनार का आयोजन किया गया। इस सेमिनार में उपरोक्त विषय पर शोध-पत्र प्रस्तुत किए गये एवं सर्व-धर्म-सद्भाव विषय पर विचार-विमर्श किया गया।

विवेकानन्द विद्या प्रशस्ति पुरस्कार – १३ मार्च को रामकृष्ण मठ, चेन्नई द्वारा तमिल लेखक श्री पे. सु. मणि को विवेकानन्द-विद्या-प्रशस्ति पुरस्कार प्रदान किया गया। इसके तहत् उन्हें एक लाख रूप दिये गए। उन्होंने रामकृष्ण-विवेकानन्द के जीवन पर तमिल में अनेक पुस्तकें लिखी हैं।

माँ सारदा के बंगलोर आगमन की शताब्दी – के उपलक्ष्य में रामकृष्ण मठ, बंगलोर ने २४ से २७ मार्च तक बंगलोर के रेलवे स्टेशन, होली मदर्स रॉक तथा गंगाधरेश्वर मन्दिर में विभिन्न कार्यक्रम आयोजित किये गए।